AEC,SEMESTER I

CREDIT-2

राष्ट्रगौरव (पाठ्यसामग्री)

COURSE CODE-AE1HIN

COURSE OUTCOME :

इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य स्नातक स्तर पर विद्यार्थियों को भारतीय ज्ञान परंपरा एवं संस्कृति से परिचित कराना है, जिससे वे इनकी महत्वपूर्ण विशेषताओं को आत्मसात कर राष्ट्र-निर्माण में योगदान कर सकें।

Unit	Topic
इकाई-1	**राष्ट्रः** अभिप्राय, अवधारणा एवं मूलघटक, आधुनिक राष्ट्र-राज्य का अर्थ तथा राष्ट्रगौरव के आधार **प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्थाः** राजतंत्र तथा गणतंत्र **प्राचीन भारतीय समाजः** संरचना एवं सामाजिक मूल्य
इकाई-2	**भारतीय संस्कृतिः** अवधारणा एवं स्वरूप **प्राचीन भारत के प्रमुखग्रंथः** रामायण, महाभारत, उपनिषद एवं अर्थशास्त्र **भारतीय संगीत एवं ललित कलाएं:** एक संक्षिप्त परिचय **प्राचीन भारतीय अंक पद्धतिः** वैदिक गणित एवं ज्यामिति **प्राचीन भारत में विज्ञानः** धातुविज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान एवं खगोलशास्त्र
इकाई-3	**भारत में भक्ति आंदोलनः** पृष्ठभूमि एवं विकास भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन, **भारत के प्रमुख विचारकः** गौतमबुद्ध, महावीर स्वामी, शंकराचार्य, गोरखनाथ, कबीरदास, तुलसीदास, विवेकानन्द, राजाराममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, पेरियार, सबित्रि बाई, ज्योतिबा फुले, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू, बाबासाहब डॉ. भीमराव अंबेडकर, राममनोहर लोहिया, दीनदयाल उपाध्याय

संदर्भ ग्रंथः

1. अनिलदत्त मिश्र, दीनदयाल उपाध्यायः एक अध्ययन, कंसेप्ट पब्लिसिग कम्पनी प्रा लि, नई दिल्ली, 2019
2. इरफान हबीब, विजय कुमार ठाकुर, वैदिक काल, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2016
3. किशन पटनायक, गांधी, अम्बेडकर और लोहिया,
4. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पिपुल्स पब्लिसिंग हाउस रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-55
5. गुणाकर मुले, भारत इतिहास, संस्कृति और विज्ञान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
6. गुणाकर मुले, अंक-पद्धति की कहानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
7. गुणाकर मुले, प्राचीन भारत के महान वैज्ञानिक, राजकमल प्रकाशन, नईदिल्ली, 2011
8. गुणाकर मुले, प्राचीन भारत में विज्ञान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
9. गोविन्द चंद्र पांडेय, वैदिक संस्कृति, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019
10. ठाकुर जयदेव सिंह,, भारतीय संगीत का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2016
11. दामोदर धर्मानंद कोसंबी अनुवादक गुणाकर मुले, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012 संशोधित संस्करण
12. भानुप्रताप शुक्ल, (सम्पादन) राष्ट्र, जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991
13. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज 2019
14. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
15. वासुदेवशरण, कला और संस्कृति, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019
16. विजयबहादुर राव, उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, विजय बहादुर स्मृति निधि, लखनऊ, 2016
17. सुमित सरकार, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, 2018
18. सुरेन्द्र दुबे, राष्ट्र गौरव, पर्यावरण एवंमानवाधिकार, नीलकमल प्रकाशन, 2009
19. सुरेश सोनी, भारत में विज्ञान की उज्ज्वल परम्परा, अर्चना प्रकाशन, भोपाल, 2011
20. हृदयनारायण दीक्षित, भारतीय संस्कृति की भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, 2008

विषय सूची

	खण्डः क - राष्ट्रगौरव	पृष्ठ संख्या
1.	(अ) राष्ट्र अर्थ, अवधारणा एवं उसके घटक --डॉ० ईश्वर शरण विश्वकर्मा (ब) राष्ट्रगौरव: अभिप्राय, अवधारणा एवं मूलघटक - प्रो० राजेन्द्र प्रसाद	1 7
2.	प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था राजतन्त्र एवं गणतन्त्र - डॉ० राजवन्त राव	18
3.	प्राचीन भारतीय समाज संरचना तथा सामाजिक मूल्य - डॉ० (श्रीमती) विपुला दुबे	29
4.	भारतीय संस्कृति : अवधारणा एवं स्वरूप- डॉ० ईश्वर शरण विश्वकर्मा	41
5.	प्राचीन भारत के प्रमुख ग्रन्थ एवं साहित्य - डॉ० मुरली मनोहर पाठक	51
6.	भारतीय संगीत एवं ललित कलाएँ परम्परा, स्त्ररूप एवं उदाहरण - डॉ० भारत भूषण	62
7.	भारत में भक्ति आन्दोलन संक्षिप्त परिचय--प्रो० जनार्दन	71
8.	भारतीय अंक पद्धति वैदिक गणित एवं ज्योमिति - डॉ० ईश्वर शरण पाठक विश्वकर्मा	82
9.	प्राचीन भारत में विज्ञान 'धातु विज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, खगोल एवं ज्योतिष - डॉ० ईश्वरशरण विश्वकर्मा	94
10.	आधुनिक राष्ट्र, राज्य तथा राष्ट्र गौरव के घटक - प्रो० श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी	115

खण्ड क : राष्ट्र गौरव

अध्याय–1 (अ)

राष्ट्र : अर्थ, अवधारणा एवं उसके घटक

प्राचीन भारतीय ऋषि–चिन्तन की एक महत्वपूर्ण देन 'राष्ट्र' एवं 'देश' सम्बन्धी शाब्दिक परम्परा है, जिनके भीतर भारतीय संस्कृति की पूर्ण संकल्पना समाहित है। इस चिन्तन का ही परिणाम है कि भारत की राष्ट्रीय संकल्पना विश्व के देशों से अलग है, पुरातन, पवित्र एवं पारम्परिक है। इसी विचार ने भारत को राष्ट्रीय गौरव प्रदान किया तथा इस भारत राष्ट्र की पहचान विश्व में सुसंस्कृत एवं सभ्य राष्ट्र के रूप में हुई। भरत (जन), भारत (राष्ट्र) एवं भारती (संतति) जैसी संकल्पनाओं का उदय भी इसी राष्ट्र से हुआ। इसलिए अपने नाम तथा रूप की एकात्मता तथा जीवन की ऐहिक एवं पारलौकिक विचारणा के कारण भारत एक राष्ट्र है, भारती यहाँ की प्रजा तथा भरत यहाँ के राजन्य परम्परा का आदर्श माना जाता है। राष्ट्र की ही तरह 'विश्व', 'ब्रह्माण्ड, लोक, परलोक, त्रैलोक्य आदि की भी सृजन भूमि भारतीय मेधा ही रही है। राष्ट्र एक गौरवास्पद अभिधान है जो वैदिक ऋषियों की प्रखर प्रज्ञा का परिणाम रहा है।

राष्ट्र : अर्थ– 'राष्ट्र' एक वैदिक शब्द है जिसका विस्तार लौकिक संस्कृत तथा जीवन की अन्य परम्पराओं में सांस्कृतिक जीवन के साथ ही हुआ। संस्कृत के राजृ = दीप्तौ से दीप्ति अर्थ में 'ष्ट्रन' प्रत्यय से यह शब्द बनता है, जिसका सामान्य अर्थ है– दीप्ति, प्रकाश, शक्ति, गति, चमकना, जगमगाना, सुन्दर प्रतीत होना आदि। ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि 'राष्ट्र तुमसे पृथक् न हों'। 'तुम राष्ट्र में स्थिर रहो, अपच्युत न हो, पर्वत की भाँति अविचल रहो, इन्द्र की भाँति ध्रुव बन खड़े रहो और राष्ट्र को धारण करो।' ज्योति एवं प्रकाश का स्वामी होने के कारण सूर्य की शक्ति सविता को राष्ट्र का स्वामी कहा गया है। इस प्रकार यह शब्द, ऊर्जा, प्रकाश, गति, ज्ञान आदि को अभिव्यक्त करता है। आगे चलकर अथर्ववेद तथा वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों में राष्ट्र का अर्थ, अभिप्राय तथा भाव–विस्तार दिखाई देता है। अथर्ववेद में इन्द्र प्रेरित राष्ट्र देने की अभ्यर्चना की गयी है। कपिष्ठल संहिता में यहाँ तक कहा गया है कि जो राष्ट्र (दीप्तिभाव) की कामना करते हैं, वे राष्ट्र भाव को मन से धारण करते हैं, वह स्वयं राष्ट्रमय तथा ज्योतिर्मय हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस जाग्रत दीप्तिभाव की ही संज्ञा 'राष्ट्र' के रूप में स्वीकार की गयी। यही

कारण है कि वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में सभी को राष्ट्र के लिए जाग्रत रहने की कामना की गयी है।

विश्व के प्राचीनतम् ग्रन्थ वैदिक साहित्य में 'राष्ट्र' को जिस अर्थ तथा अभिप्राय के साथ ग्रहण किया गया है, वह ज्योति, प्रकाश, चेतना, ज्ञान का ही अर्थ देता है। यह शब्द वैदिक 'ऋत' का ही समानार्थी है, जो विश्व ब्रह्माण्ड की नियामिका, संचालिका शक्ति तथा नियम है, वही तो भारतीय ऋषियों की विलक्षण खोज है, जिसे 'ऋत' कहा गया है। वेदों में राष्ट्र के समानार्थी तथा पर्यायी शब्द में 'श्री' (श्रीर्वैराष्ट्रम्), 'क्षत्र' (क्षत्रं हिराष्ट्रम्), वाक् (वाग्वै राष्ट्री) विश (राष्ट्राणि वै विशः) तथा संविता विशेष उल्लेखनीय है। अथर्ववेद में राष्ट्र की शक्तियों का सविस्तार वर्णन है, जिसके अन्तर्गत तेज, ओज, सामर्थ्य, बल, वाक्, इद्रिय, श्री, धर्म, ब्रह्म, क्षत्र, राष्ट्र, विश, त्विष, यश, वर्चस्व, द्रविण, आयु, रूप, नाम, कीर्ति, प्राण, आयतन, चक्षु, श्रोत, ऋत, सत्य, अन्न, इष्ट, यज्ञ, प्रजा तथा पशु आदि की गणना की गयी है, जिनके प्रति श्रद्धा, सम्मान, संरक्षण तथा संवर्धन का श्रेष्ठ भाव ही राष्ट्र की धारणा का आधार है।

'राष्ट्र' नामक शब्द के व्यापक अर्थ तथा अभिप्राय है। कहा गया है कि जगत् के कल्याण की इच्छा से आत्मज्ञानी ऋषियों ने सृष्टि के आरम्भ में दीक्षा और तप किया था, उसी से बल और ओज भी प्रकट हुए। इसलिए इस राष्ट्र के प्रति नम्रता का भाव रखकर वैदिक ऋषियों ने सेवा का निर्देश दिया है। भारत भूमि को एक सुशोभन राष्ट्र इसीलिए कहा गया, क्योंकि यहाँ के जीवन और चिन्तन में तप–तापस, बल–बली को आरम्भ से ही महत्व दिया जाता रहा है। राष्ट्र से तात्पर्य उस ऊर्जा और चेतना से है जो किसी भूमि पर निवास करने वालों में विद्यमान रहती है। इसी के आधार पर वह राष्ट्र अपनी चरितार्थता को प्राप्त करता है। भारत एक ऊर्जायुक्त चैतन्य राष्ट्र है, यही यहाँ का राष्ट्र गौरव है।

'राष्ट्र' शब्द भारतीय ऋषि–प्रज्ञा के दीर्घकालीन तापस–जीवन का तेजोमय अभिधान है जो सौभाग्य से भारतीयों को मिला। 'राष्ट्र' की खोज तथा उसका समग्र चिन्तन भारतीय उपलब्धि है। इसीलिए यह भू–भाग अत्यन्त प्राचीन काल से समादृत एवं विशिष्ट है। इसकी संकल्पना जैसी प्राचीन काल में थी, उसी प्रकार वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में भी है। यही भारत की अजेयता तथा बल का प्रतीक है। राष्ट्र, राष्ट्रीय, राष्ट्रीयता इस देश की सांस्कृतिक धरोहर है।

राष्ट्र : अवधारणा— भारतीय चिन्तन में 'राष्ट्र' एक गौरवास्पद अवधारणा है। वैदिक ऋषियों ने 'राष्ट्र' की अवधारणा एक जीवित इकाई के रूप में की है जो बहुत से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक गुणों से अन्वित होकर ही पूर्ण होता है। इन्हीं अवधारणाओं पर भारतीय 'राष्ट्र' का निर्माण हुआ। इसीलिए यहाँ की भूमि माता तथा जननी के रूप में स्वीकार की गयी। भारतवर्ष एक ऐसा ही राष्ट्र है जिसकी भूमि सबकी माता है। यहाँ के निवासियों का इसके साथ एक सजीव सम्बन्ध है। ये सभी विवरण अत्यन्त प्राचीन हैं। इस अवधारणा के विकास में उसी

दीप्ति, कान्ति, तेज और बल के मूल भाव समाहित रहे हैं, जिनसे एक भावनात्मक स्वरूप निर्मित होता है।

'राष्ट्र' की अवधारणा में शिक्षा, सर्वसुख तथा सर्वांगीण विकास का भाव निहित है। क्योंकि जहाँ तप और बल का प्राधान्य होगा, वहाँ 'श्री' और 'कान्ति' का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देगा। इस भूभाग के 'भारत' नामकरण की जो अवधारणा है, उससे यह मेल खाता है। भरत जनों की श्रेष्ठ यज्ञाग्नि के सेवन, चयन तथा अर्चा से प्राप्त तप और दीक्षा का बल ही कालान्तर में भारत को एक 'राष्ट्र' बनाने में सफल हुआ। इसीलिए यहाँ के शासकों ने स्वयं को अवनिपति, भूपति, पृथ्वीपति जैसी उपाधियों से जोड़ा। यह उनके श्रेष्ठ राज्यादर्श का उदाहरण है।

'राष्ट्र' को धारण किया जाता है। 'राष्ट्रता' की प्राप्ति की जाती है। इसकी प्राप्ति के लिए राष्ट्र की मंगल कामना की गयी है, वहीं सर्वाभ्युदय, सर्वांगीण विकास तथा सर्वकल्याण की बात की गयी है।

योगक्षेम युक्त श्रेष्ठ राष्ट्र के लिए की गयी मंगलकामना भारतीय राष्ट्र की अवधारणा का मूर्तरूप है। राष्ट्र का एक प्रतीक यज्ञ भी माना गया है। राष्ट्रता की प्रक्रिया यज्ञीय है। राष्ट्र को ऋषियों ने भी तप एवं यज्ञ से प्राप्त किया था। यज्ञीय विचार भारतीय राष्ट्र का भौतिक विचार है, जिसमें प्रकृति एवं मानव की एकता की स्थापना तथा सर्वस्व त्याग की भावना का विकास होता है। राष्ट्र के निर्माण में त्याग, बल, तेज, ओज अनिवार्य है। इसलिएँ अच्छे राष्ट्र के लिए त्याग, बलिदान, समर्पण जैसे विचार आवश्यक हैं। सबमें राष्ट्रता व्याप्त हो, सब राष्ट्रमय हो, यही भारत का मौलिक चिन्तन रहा है। इसलिए राष्ट्र की अवधारणा दैवी एवं सजीव अवधारणा है। स्वाधीनता का इतिहास इस अवधारणा का जीवन्त रूप है, जिसमें राष्ट्र की बलिवेदी पर अनेक वीरों ने अपने प्राण त्याग दिये, अर्पित कर दिये। देश के शहीद स्मारक इसी राष्ट्रीय भावना के स्मृति शेष हैं। भारत की इस अवधारणा को वैदिक युग में पल्लवित किया गया, जिसका अनुपालन कर भारतीय राजाओं, शासकों, महापुरुषों आदि ने विश्वविजयी धर्मविजयी, दिग्विजयी तथा देदिप्यमान भारत की कल्पना को साकार किया। वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक परिदृश्य में भी इस अवधारणा का विशेष महत्व है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'विश्वबन्धुत्व' के आदर्श को चरितार्थ करने में इस अवधारणा का महत्तम योगदान है।

राष्ट्र : घटक

राष्ट्र की वैदिक अवधारणा का ही पल्लवन भारत के विभिन्न युगों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के निरूपण में किया गया। डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल (भारत की मौलिक एकता) में राष्ट्र के मूलघटकों में तीन घटकों को परिगणित किया है– भूमि, जन एवं संस्कृति। इन घटकों के विकास से ही राष्ट्र गौरवान्वित होता है। राष्ट्र को यशस्वी एवं प्रकाशमान बनाने में भी इन्हीं का योगदान है। इन्हें ही राष्ट्र की कसौटी माना गया है। व्यापक अर्थ में भूमि, जन और

संस्कृति को जीवन पद्धति तथा पृथ्वी की आध्यात्मिकता से भी जोड़ा गया है। निष्कर्षतः पृथ्वी (भूमि) की आध्यात्मिक शक्ति को 'राष्ट्र' कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मातृभूमि के जाग्रत चैतन्य रूप से 'राष्ट्रीयता' तथा राष्ट्रीयता की ही प्रेरक शक्ति से जन या नागरिक बनते हैं। भूमि ही जनों की एकता का आधार है। एक भूमि, एक जन, एक राष्ट्र, यही भारत के राष्ट्रीय जीवन के महान सत्य हैं। इस प्रकार समान मातृभूमि ही राष्ट्र की जननी और प्रथम धात्री है। राष्ट्रीय चेतना तथा बोध का स्रोत मातृभूमि का हृदय है। जन और भूमि दोनों के सगात्मक सम्बन्ध को ही 'माता–भूमि' कहा गया है। इसलिए उक्त तीनों घटक एक गौरवशाली, वैभवशाली, यशस्वी राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

(क) भूमि :

राष्ट्र की अवधारणा का प्रथम आधार भूमि है। जन की भाषा, संस्कृति, धार्मिक विश्वास, एवं बहुमुखी उत्कर्षित जीवन के विकास का इतिवृत्त भूमि के अंतरंग परिचय में प्राप्त होता है। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस पक्ष पर अत्यन्त गम्भीर विचार व्यक्त किया है। वास्तव में उसी का अमृतमय फल भूमि और जन में परस्पर माता–पुत्र के दिव्य सम्बंध की स्थापना है। भूमि का माता तथा अपने को उसका पुत्र समझने की सामूहिक चेतना राष्ट्र की चेतना का एक सशक्त आधार है। अथर्ववेद के प्रसिद्ध 'पृथिवीसूक्त' में इस भावना का रूप निरूपित है। मातृभूमि के स्वरूप तथा उसके साथ राष्ट्र के जन की एकता का तादात्म्य एवं रागात्मक रूप का जैसा चिन्तन भारत में हुआ है, वैसा विश्व के किसी प्राचीन देश के साहित्य में नहीं है।

भूमि वह प्रमुख तत्व है जो राष्ट्रीय जीवन का भौतिक आधार है। इस भूमि को कामदुधा, विश्वम्भरा, विश्वधायस कहा गया है। जन की ऊर्जा, तप, बल, ओज, पराक्रम आदि का आधार भूमि ही है। भूमि को आधार मानकर प्राकृतिक शक्तियों से राष्ट्र की धारणा का विकास किया गया। राष्ट्र की धारणा में द्युलोक, पृथिवी, पर्वत, जगत्, राजा, प्रजा, वरुण, वृहस्पति, इन्द्र आदि सभी को सहगामी माना गया है। ये सभी अटल प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। इनका ही विस्तारित रूप भारत की नदियाँ, सरोवर, पर्वत तथा सभी पुण्य तीर्थ क्षेत्र, देवायतन आदि हैं। इन सभी से भूमि की धारणा बनती है। भूमि पर पुत्र भाव से बसने वाले जन इस धारणा का संवहन करते हैं।

भौगोलिक एकता के सूत्र में राष्ट्र की अवधारणा को व्यक्त किया गया तथा मनुस्मृति में इस पृथ्वी के सभी मानवों को चरित्र एवं ज्ञान की शिक्षा का आह्वान किया गया है।

भारतीय चिन्तन में भूमि अथवा पृथ्वी को एक यज्ञदेवी माना गया है, जो संस्कृति की ज्योति के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिए कहा गया है कि भारत की भूमि देव–भूमि है।

(ख) जन :

राष्ट्र की अवधारणा का द्वितीय घटक 'जन' है, जिससे राष्ट्र के स्वरूप का निर्माण तथा राष्ट्र की सत्ता का बोध होता है। भूमि पर जन का सन्निवेश एक रोमांचकारी घटना मानी जाती है।

भूमि पर जनों का विस्तार स्वाभाविक रीति से चतुर्दिक होता है। पृथ्वी स्वयं एक पात्र है, जिसमें जन स्थित हैं। जन संस्कृति भारत राष्ट्र की पहचान है। भूमि पर अच्छे–बुरे दोनों ही प्रकार के लोग निवास करते हैं। भूमि सभी का पोषण करती है। भद्र एवं पापी दोनों की मृत्यु उसी की गोद में होती है। सब दाहिनी–बायीं करवट से उसी पर लेटते हैं और वह सभी की शय्या बनी है। माता के रूप में वह क्षमाशीला है। इसीलिए उसका नाम क्षमा है।

इस भारत की राष्ट्र की एक विशेषता है कि भारत जन ने इस भूमि के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उसे 'भारत' नाम दिया। भरतों की पहचान उनके भरत नामक अग्नि के चयन से रही है। इसीलिए भरतजन की भरताग्नि इस भूमि के साथ सम्बन्धित है। जनों का यशस्वी इतिहास इस भूमि के साथ मिलता है। कालान्तर में अनेक देशज एवं विदेशी जनों ने मिलकर इस राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में अपना योगदान दिया। इस प्रकार जनों का ही इतिहास भारत का वास्तविक राष्ट्रीय इतिहास है। इक्ष्वाकु, पुरु, यदु, अनु, द्रहयु, मालव, शिवि आदि के इतिहास से ही इस देश का इतिहास निरूपित है। इस प्रकार जन के स्वरूप, स्थिति तथा उनके राष्ट्र भाव से भारत के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हुआ है। भारत के राष्ट्रगान में इसी भाव की अनुगूँज है– "जन–गण–मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता।"

(ग) संस्कृति :

राष्ट्र की अवधारणा में भूमि एवं जन के पश्चात संस्कृति तीसरा घटक है। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। स्थूल जीवन में इसकी अभिव्यक्ति भाषा, कला, साहित्य, लिपि आदि से होती है। यह वस्तुतः संस्कारों की अभिव्यक्तियाँ हैं। संस्कृति में नानात्व या विविधता अनिवार्य है। राष्ट्र संबर्धन और उसके गौरव का सबसे प्रबल कार्य संस्कृति की साधना है। भूमि और जन की जीवन पद्धति से इसका निर्माण होता है। इसीलिए राष्ट्र की कसौटी का एक महत्वपूर्ण तत्व है।

जीवन के आदर्श, अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वासों एवं परम्पराओं के सम्मिलित द्वारा एक स्वरूप प्रदान किया गया हो। ऐसे समाज समान परम्पराओं एवं महत्वाकांक्षाओं से युक्त, अतीत के जीवन के सुख–दुःख की समान स्मृतियों और भिन्न–शत्रु की

समान अनुभूतियों वाला तथा जिसके सभी हित संग्रहीत होकर एक हो गये हैं, तब इस प्रकार के लोग उस विशिष्ट प्रदेश में पुत्र रूप में निवास करते हुए राष्ट्र कहे जाते हैं। उनकी संस्कृति राष्ट्रीय संस्कृति बनती है, किन्तु भाव का प्रवाह एक रहता है। इस आदर्श से भूमि के साथ माता का सम्बन्ध, जन के साथ परस्पर साहचर्य एवं मातृ भावना, से राष्ट्र जीवन की समान धारा की चेतना उत्पन्न होती है। इस प्रकार भूमि, जन और संस्कृति मिलकर राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

कला, साहित्य, तीर्थ और पुण्य क्षेत्र, धर्म, सम्प्रदाय, आर्थिक एवं भौतिक तत्व, कृषि, पशुपालन, व्यापार–वाणिज्य, जन संचार इन सभी में संस्कृति का प्रवाह विद्यमान है। भारतीय कला को राष्ट्र देव के चरणों में अर्घ्य माना गया है। साहित्य में काव्य, नाटक, आख्यान, कथा, परम्परा सभी के जीवन दर्शन तथा राष्ट्रीय मूल्य सुरक्षित हैं। भारत के प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग के राष्ट्रीय जीवन का दर्पण है। भारत के तीर्थ, तपस्वियों के आश्रम, सप्तपुरियाँ, चारो धाम, शक्तिपीठ, ज्योतिर्लिंग, जैन, बौद्ध आदि धर्मों के तीर्थों से भारतीय संस्कृति प्रवहमान है। इसी प्रकार कृषि, व्यापार, वाणिज्य आदि सभी में एक सांस्कृतिक चेतना विद्यमान है।

कृषि संस्कृति भारत के राष्ट्रीय जीवन का आधार तथा मौलिक एकता की कुन्जी है। अथर्ववेद में पृथ्वी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति गाय मानी गयी है। उसकी सेवा से धर्म, अर्थ ,काम सिद्ध होते हैं। यही भारत के ग्राम्य जीवन का आधार है।

वास्तव में बल ही राष्ट्र को सम्पूज्य बनाता है। इसीलिए 'कृषि बल' की चर्चा है। उत्पादन, उपभोग, व्यापार आदि के सम्बन्ध में यजुर्वेद में मंत्र मिलते हैं।

राष्ट्र की अवधारणा के विकास में भूमि, जन एवं संस्कृति नामक तीनों घटक व्यापक अर्थ, अभिप्राय, अवधारणा तथा दर्शन लिये हुए हैं। राष्ट्र की अवधारणा में 'राष्ट्र चिति' एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसी चिति का विस्तार 'राष्ट्रीय चेतना' है। पृथ्वी को 'यज्ञवेदी' कहा गया है, इसका तात्पर्य यह है कि इसमें अग्नि तत्व प्रधान है। अग्नि की विद्यमानता उसकी राष्ट्रीय चेतना है। इसी से राष्ट्र भाव का निर्माण होता है। इसीलिए विभिन्न स्तरों पर सर्वत्र जिस समाज में यह चेतना है, वही उस राष्ट्र की अग्नि है, चिति है।

राष्ट्र के अन्तर्गत प्रान्त, धर्म, जाति तथा अन्य सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। राष्ट्र की एकता, भूमि की मातृ भावना, हमारे अनमोल वरदान हैं। भारतीय उत्सव, मेले, व्रत, त्यौहार, अनुष्ठान, धार्मिक क्रियाएँ, विविध प्रतीक, दर्शन, जीवन पद्धतियाँ सभी राष्ट्र की अवधारणा के व्यापक आयाम हैं।

अध्याय–1 (ब)

राष्ट्र गौरव : अभिप्राय, अवधारणा एवं मूलघटक

अभिप्राय व अवधारणा

किसी राष्ट्र के गौरव का अभिप्राय उसके द्वारा अंगीकृत उन मूर्त तथा अमूर्त तत्वों या साध्यों की उस गहरी अनुभूति से है, जिससे उसकी अपनी अलग पहचान, श्रेष्ठता, स्वाभिमान, महानता तथा राष्ट्रीय–जीवन के उदात्त मूल्यों की धारण–शक्ति का बोध होता हो और जिनसे उसे ऐसी अविच्छिन्न प्रतिष्ठा या चेतना प्राप्त हो, जो राष्ट्रीय–हितों के लिए सर्वथा अनुकुल हो।

शाब्दिक रूप में, इसमें राष्ट्र+गौरव, जिन दो शब्दों का संयोग है, उनमें गतिमानता और सातत्य दोनों के भाव सन्निहित हैं। इसलिए आवश्यक है कि इनकी विशद व्याख्या की जाय। अंग्रेजी में 'राष्ट्र' के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द 'नेशन' (Nation) लैटिन में 'नेटियो' (Natio) से लिया गया है जो जन्मगत एक समान मानव समुदाय की ओर संकेत करता है। अलग–अलग 'नेशन' अर्थात् नृजाति का विकासक्रम भिन्न–भिन्न रहा है, फलतः सभी राष्ट्रों के घटकों में अवयवी एकरूपता नहीं हो सकती। वस्तुतः गुणात्मक दृष्टिकोण से हर एक 'नेशन' की अलग पहचान होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रारम्भिक काल में मानव खेती करने की कला से अनभिज्ञ था। फलतः शिकार तथा पशुपालन ही जीविका के आधार थे। इन दोनों का स्वरूप ही ऐसा था कि मनुष्यों को घुमन्तु टोलियों में निरन्तर स्थानान्तरण करना पड़ता था, परन्तु इन टोलियों के सदस्यों में गहरी एकात्मकता थी। जीविकोपार्जन के साधनों पर स्वामित्व के लिए विभिन्न टोलियों में संघर्ष भी होते थे, जिसमें संघर्षात्मक क्षमता एवं श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अनुशासन तथा नेतृत्व के प्रति निष्ठा का विशेष ध्यान रखा जाता था। इस मानसिकता को जनजातिवाद (Tribalism) कहा गया। कालान्तर में कृषि का अन्वेषण हुआ और इसका स्वरूप ऐसा था कि उसके लिए एक ही भू–भाग में निवास करना आवश्यक हो गया। धीरे–धीरे घुमन्तू समूहों में से अधिकांश मानव कृषि कार्य में रूचि लेने लगे और एक ही भू–भाग में निवास करने लगे। आगे चलकर स्थापित समूहों की संख्या बढ़ती गयी और एक ही भू–भाग में निवास करने वाले लोगों में अपनी भूमि के प्रति आत्मीयता पैदा होना स्वाभाविक था। इसे क्षेत्रवाद (Territorialism) की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार ऐतिहासिक विकास के क्रम में जहाँ–जहाँ 'जनजातिवाद' और 'क्षेत्रवाद' को सुमेलित किया गया, वहाँ 'राष्ट्रीयता'

की भावना का सृजन हुआ। इस रूप में किसी भी मनुष्य या मानव समूह की भूमि के साथ आत्मीयता दीर्घकालीन साहचर्य की उपज थी। इस कड़ी में मानवों ने प्राकृतिक विविधता के साथ तादात्म के साथ मानसिक एकता की ओर बढ़ते हुए राष्ट्रीयता के विविध सोपानों का निर्माण करना प्रारम्भ किया। फलतः 'राष्ट्रवाद' के रूप में समूहगत अस्मिता का प्रादुर्भाव हुआ। यही समूहगत अस्मिता 'राष्ट्र–गौरव' के रूप में फलीभूत होती रही।

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी 'राष्ट्र' के लिए प्रथम आवश्यक मूर्त तत्व एक भूखण्ड है, जो यथासम्भव प्रकृति द्वारा निर्मित या प्रदत्त सीमाओं से आबद्ध हो और राष्ट्र के अस्तित्व, ज्ञानार्जन एवं समृद्धि के लिए भौतिक आधार दे। दूसरा आवश्यक तत्व है उस विशिष्ट भू–खण्ड में निवास करने वाला जन–समुदाय, जो उसके प्रति मातृभूमि (सा नः माता भूमिः। अथर्ववेद 12-1-10) की आत्मीयता एवं पूज्य भाव को आत्मसात् करे तथा उसे अपने पोषण, सुरक्षा और वैभव प्राप्ति के स्थान के रूप में ग्रहण करे।

ऐसे जन–समुदाय या समाज को केवल मनुष्यों का एक संकुल ही नहीं होना चाहिए, बल्कि उसके जीवन की एक विशिष्ट एवं उदात्त गुणयुक्त पद्धति सतत् क्रियाशील होनी चाहिए, जिसे जीवन के आदर्शों, अनुभूतियों, आकांक्षाओं, प्रेरणाओं, विश्वासों, परम्पराओं और सांस्कृतिक सहचारिता द्वारा पोषित करके एक आकार दिया गया हो। इस प्रकार जब किसी विशिष्ट भू–प्रदेश में रहने वाला समाज समान परम्पराओं एवं महत्वाकांक्षाओं से युक्त होकर, बीते जीवन की सुख–दुख की समान स्मृतियों और शत्रु–मित्र की समान ग्राह्यताओं को धारण करने के साथ–साथ अपने सांसारिक हितों को समान रूप से समेटते हुए व्यवस्थित रूप से संगठित हो जाय, तो इस प्रकार जन–समुदाय या समाज के लोग उस विशिष्ट भूमि में पुत्र के रूप में निवास करते हुए राष्ट्र का सृजन करते हैं।

राष्ट्र–गौरव का भारतीय संदर्भ और उसके घटक

इस प्रकार के गुणानुवाद से यह स्पष्ट होता है कि 'राष्ट्र–गौरव' की अनुभूति कराने में ऐसे अनेक मूर्त एवं अमूर्त तत्वों का समावेश होता है, जिनकी उपस्थिति या उपलब्धता से सम्बन्धित राष्ट्र की सबलता का प्रमाण मिलता है। इसके विपरीत, ऐसे तत्वों के अभाव में सम्बन्धित राष्ट्र की निर्बलता उजागर होती है। ऐसे मूर्त व अमूर्त तत्वों के सबल अवयवों या घटकों में निम्नांकित अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं :

1. सबल जनशक्ति।
2. गौरवशाली भौगोलिक अवस्थिति एवं प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता।
3. समृद्ध ऐतिहासिक विरासत एवं मान्यता।
4. सांस्कृतिक एवं बौद्धिक सम्पन्नता।
5. राष्ट्रीय संचेतना एवं राष्ट्र–हितों की साधना।
6. अनुकरणीय नेतृत्व एवं आदर्श।
7. उत्तरोत्तर शक्ति की साधना एवं उन्नत युद्धकौशलात्मक अभिरूचि का निर्माण।

1. सबल जनशक्ति

विद्वानों ने 'जनसंख्या' को राष्ट्रीय शक्ति का पहला मूर्त तत्व स्वीकार किया है, किन्तु केवल संख्या के आधार पर कोई राष्ट्र तब तक सबल नहीं हो सकता, जब तक कि वह अपने जन–समुदाय को मानव–संसाधन के रूप में उत्तरोत्तर विकसित करके 'जन–शक्ति' (Man Power) में रूपान्तरित न कर दे। यही जन शक्ति प्रत्येक राष्ट्र के लिए 'वह आधारभूत संसाधन है जो अन्य संसाधनों का दोहन व पोषण करके अन्त में उन्हें जन–कल्याण एवं राष्ट्र–हित में लगाती है।'

ऐसी जन–शक्ति को तैयार करने में जन–कल्याणकारी नियोजन एवं कार्यक्रमों की अहम् भूमिका होती है, जिसमें सुशासन (good governance) निर्णायक रहता है। इस प्रकार किसी राष्ट्र की जन–शक्ति तुलनात्मक रूप से जितनी सबल और नियोजित होगी, वह राष्ट्र उतना ही समृद्ध, खुशहाल और सुरक्षित रहेगा। फलतः उस राष्ट्र की समूहगत एकता एवं सम्मान अर्थात् राष्ट्र–गौरव की रक्षा हो सकेगी। भारत के संदर्भ में यह विचारणीय है कि यहाँ जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है और सौ करोड़ से ऊपर पहुँच चुकी है। जनसंख्या वृद्धि में विकास दर एक आंकलन के अनुसार 2047 के पूर्व स्थिर होने वाली नहीं है। फिर भी यह ध्यान रखने योग्य है कि आगामी वर्षों में पश्चिमी देशों की तरह भारत में भी वृद्ध, अपंग, भिखारियों आदि की संख्या में वृद्धि के कारण 'निष्क्रिय जनसंख्या' का बोझ बढ़ सकता है। अतः जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि के लिए पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य, शिक्षा, आवश्कता–पूर्ति एवं मूल्य–चेतना का विस्तार होना चाहिए, जिससे भारतीय समाज के विभिन्न आयु–वर्ग के लोगों में समूहगत आत्मीयता बनी रहे। जहाँ तक भारत में लगभग 18% युवावर्ग का सम्बन्ध है, वही सम्पूर्ण जनसंख्या में सबलता का हीर है। युवा वर्ग ही जनशक्ति बन कर राष्ट्रीय–गौरव को नई ऊँचाई देने, बहुजातीय, अनेकता में एकता का भाव भरने, भारत को ज्ञान की महाशक्ति बनाने, चुनौतियों एवं शंकाओं की बीच राष्ट्र की सर्वांगीण सुरक्षा (Comprehensive security) सुनिश्चित करने तथा राष्ट्रीय खुशहाली का मार्ग प्रशस्त करने के लिए, 'उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण' (Liberalisation, Privatisation and Globalisation-LPG) के वर्तमान भंवर में फँसे हुए भारत गणतंत्र का भावात्मक पतवार बन कर उसे उबारने में सक्षम है।

2. गौरवशाली भौगोलिक अवस्थिति एवं प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता :

सदैव अपने अस्तित्व एवं उत्तरजीविता के लिए संघर्ष करने वाली मानवजाति के इतिहास से भी पूर्व पृथ्वी के उस भू–प्रदेश की गाथा प्रारम्भ होती है, जहाँ मानव निवास करता है। भूगोलवेत्ताओं एवं वैज्ञानिकों का मत है कि लगभग 8000 मील व्यास (diameter) एवं 25000 मील परिधि वाली हमारी पृथ्वी (Earth) ब्रह्माण्ड के अनन्त विस्तार में एक तैरते हुए पिण्ड के समान है और कम से कम 4 × 109 वर्ष

पुरानी है। मानव जाति पृथ्वी के जैव–मण्डल का एक अभिन्न अवयव है। फलतः मानव की समस्त क्रियाओं पर उस भूखण्ड का प्रभाव पड़ता है, जहाँ वह रहता है। उसके जीवन की अधिकांश आवश्यकतायें पृथ्वी से उत्पन्न वस्तुओं से ही पूरी होती हैं और जहाँ मनुष्य जन्म लेता है वहाँ का भौगोलिक वातावरण और धरती उसमें शक्ति का संचार करते हैं।

प्रकृति की जिस गोद में मानव खेलता–कूदता बड़ा होता है, उसकी मनोहारी छटा और भू–खण्ड के प्रति, उसके हृदय में दीर्घकालिक साहचर्य के कारण प्रेम व आत्मीयता अंकुरित होती है। वह समूहगत भावना को आत्मसात् करके उस भू–प्रदेश को 'मातृभूमि' कहकर पूजता है और उसे स्वर्ग से बढ़कर मानता है। गौरव–गाथा का विभिन्न रूपों में बखान करता है। वह क्षेत्रीय अखण्डता एवं सम्प्रभुता की रक्षा के लिए 'राष्ट्र–प्रेम' की उदात्त भावना के साथ सदा कटिबद्ध रहता है। वह अपने भू–प्रदेश की मिट्टी का तिलक लगाता है और प्रकृति–प्रदत्त गगनचुम्बी पर्वत–मालाओं को शत्–शत् नमन करता है, सरिताओं को पापनाशिनी बताकर उनके जल में अवगाहन करता है तथा राष्ट्र की भौगोलिक अवस्थिति के कारण जलावरुद्ध (water-locked) होने की दशा में सागरों व महासागरों की अतल गहराइयों को नापता है और अपनी सबलता से उनकी तरंगों पर थिरकता है। वह दुर्गम वनों एवं रेगिस्तानों के वक्षस्थलों को चीरता हुआ मार्ग बनाता है। वहाँ की जलवायु उसके रोम–रोम में प्रविष्ट हो जाती है। समस्त भू–आकृतियाँ, जैसे– पर्वत, पठार, घाटी, मैदान, झील, नदी–नाले, सागर आदि उसके जीवन के अंग बन जाते हैं और उसकी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विरासत के सृजन में प्राकृतिक योगदान देते हैं। इसके अतिरिक्त मानव की 'मातृभूमि' उसके गौरवशाली कार्यों व रचनात्मक अभिरुचि के विस्तार को स्थायी आधार देती है। वहाँ के भौगोलिक विस्तार में फैली हुई प्राकृतिक सम्पदा, संसाधन और शस्य श्यामला धरती की उपज उसकी प्रगति एवं जीवन–यापन का साधन बन कर खुशहाली का सुखबोध कराते हैं।

यदि हम अपने राष्ट्र पर इन भौगोलिक धारणाओं को लागू करें, तो हमें अपने महान राष्ट्र के गौरव का बोध होता है। यह उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में हिन्द महासागर तक तथा उत्तर, पूर्व और पश्चिम में फैली हुई हिमालय की श्रेणियों एवं उनके अन्तर्गत समाहित सीमान्त क्षेत्रों एवं भू–प्रदेशों तथा दक्षिण में हिन्द महासागर में स्थित द्वीपसमूह से युक्त एक विशाल प्राकृतिक इकाई है। जनसंख्या के हिसाब से यह विश्व का दूसरा सबसे बड़ा राष्ट्र है, जिससे इसे चीन के बाद विशाल एवं युवा जनशक्ति का दूसरा बड़ा धारक बनने का सौभाग्य मिला हुआ है। हमारे राष्ट्र के पास प्राकृतिक संसाधनों का विशाल भण्डार है, जिसके दोहन, पोषण एवं उपयोग के लिए पर्याप्त आर्थिक एवं औद्योगिक आधार, बाजार तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। ये सभी हमारे विकासमान राष्ट्र की उत्कर्षोन्मुखी गौरव–गाथा को रेखांकित करते हैं।

भारत के इतिहास और संस्कृति तथा इसके युद्धकौशलात्मक चिन्तन पर

इसकी भौगोलिक अवस्थिति, क्षेत्र–विस्तार एवं विशाल जनसंख्या का व्यापक प्रभाव रहा है। इनके कारण भारतीय नेतृत्व के इस विश्वास को बल मिला है कि हमारा राष्ट्र महान है और हिन्द महासागर क्षेत्र तथा विश्व के समकालीन राजनीतिक, युद्धनीतिक एवं आर्थिक परिवेश में इसके वास्तविक महत्व को नवीनतम पहचान मिलने के लिए पर्याप्त अवसर हैं।

यहाँ यह गम्भीरतापूर्वक विचारणीय बिन्दु है कि सदियों तक भारतीयों ने भौगोलिक अवस्थिति एवं क्षेत्रीय विस्तार को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एवं पहचान का सजीव साधन माना, किन्तु उन्नत सैन्य प्रौद्योगिकी एवं युद्ध कला के विकास ने भौगोलिक तत्वों की पारम्परिक उपादेयता को प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से सीमित कर दिया है। यद्यपि भारतीय समाज इस भूमि की संतान के रूप में हजारों वर्षों से निवास करता आ रहा है, किन्तु उसे समझना होगा कि प्रकृति ने अपने हाथों से जिस तपोभूमि की सुरक्षा के लिए हिमालय, हिन्दुकुश तथा विंध्य पर्वतमालों, दुर्गम मार्गों, नदियों, अरब सागर और हिन्द महासागर के विशाल जलक्षेत्र से आबद्ध करके एक प्रकार से निश्चिन्तता और निःशंकता प्रदान की थी, वह 21वीं शताब्दी के वर्तमान दौर में नहीं है। इस दौर में जल–थल–नभ सभी में मात्र 'सुरक्षा तत्परता' से भारत के गौरव और विश्वास की रक्षा हो सकती है। साथ ही साथ, इस दौर में जब सारा विश्व सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के विस्तार के कारण विश्व–ग्राम (Global village) बन गया है, तब भारत को अपनी जल–थलीय भौगोलिक स्थिति एवं विस्तार से पूरा लाभ उठाते हुए अपनी अर्थ–व्यवस्था, व्यापार व सुरक्षा को सबल बनाने के लिए विश्व के शक्तिशाली एवं सम्पन्न देशों के साथ पारस्परिक सहयोग करना चाहिए। इससे उसे विश्व–मंच पर अपनी प्रतिष्ठा, पहचान तथा विश्वास कायम करने के लिए परिशुद्ध सम्बल मिलेगा, जो राष्ट्र–गौरव को नया आयाम देगा।

3. समृद्ध ऐतिहासिक विरासत एवं मान्यता

प्रत्येक राष्ट्र अपने इतिहास के गर्भ में वहाँ निवास करने वाले जन–समुदाय एवं शासन व्यवस्था के उत्थान–पतन, जय–पराजय, सम्पन्नता–विपन्नता, सुरक्षा–असुरक्षा, क्षेत्रीय विस्तार–संकुचन, नेतृत्व की सबलता–निर्बलता, स्वाभिमान–अपमान आदि के अनगिनत दृष्टांत छिपाये रहता है। इस ऐतिहासिक विरासत की कोख से जन्म लेने वाली देश–भक्ति एवं राष्ट्रवादी संचेतना अलग–अलग कालखण्डों में भीषण झंझावातों के बावजूद राष्ट्र–गौरव और विश्वास को संजोने का कार्य करती है। इससे अतीत और वर्तमान की समस्त संज्ञाओं को सकारात्मक आधार मिलता है। भारत भी इनसे अछूता नहीं है।

हमारे संविधान में 'इंडिया' जो 'भारत' है, का उद्घोष है। सत्यता यह है कि 'भारत' नाम वेदों में मिलता है। पुराणों में हमारी मातृभूमि को 'भारत' कहा गया है। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में हमें 'सप्त सिन्धु' का उल्लेख मिलता है, जो हमारे देश के प्राचीनजन के लिए उपाधि स्वरूप प्रयुक्त हुआ है। यह भी ज्ञात है कि संस्कृत का 'स' वर्ण कुछ प्राकृत भाषाओं एवं कुछ यूरोपीय भाषाओं में भी 'ह' में रूपान्तरित

हो जाता है। इस प्रकार 'हप्त हिन्दू तत्पश्चात् 'हिन्द' नाम प्रचलित हो गया। इसलिए 'हिन्दू' हमारा गौरवशाली नाम है, जिससे भारतीय समाज की प्राचीनता, एकता, उदात्तता एवं विशिष्टता प्रकट होती है। इन सबके बावजूद हमें विदेशी आक्रांताओं के कारण अपूरणीय क्षति हुई और समूहगत स्वाभिमान एवं प्रतिष्ठा नष्ट हुई।

वर्तमान में कोई भी राष्ट्रवादी भारतीय इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकता कि विदेशी सत्ताओं के चंगुल में लम्बे समय तक जकड़े रहने के बावजूद भारत का एक विशिष्ट राष्ट्र जीवन है, जो भारतीयों को अभिप्रेरणा देता है। इतिहास का यह क्रूरतम आघात रहा है कि विजित लोगों में कुछ लोग जो बलपूर्ण कार्यवाही या दण्ड भय या प्रलोभनवश विजेताओं के जीवन–मूल्य, शैली और धर्म अपनाने के लिए बढ़े, वे ही अपनी समृद्ध ऐतिहासिक विरासत से कटकर अपने पूर्वजों के प्रति अनादर और शत्रुता का भाव रखते हैं। ऐसा करके वे अपने को विजेताओं के इतिहास से जोड़ते हैं और इस प्रक्रिया में यह भूल जाते हैं कि वे विजित किये गये लोगों में से हैं। भारत के विरूद्ध अनादर एवं शत्रुभाव रखने वाला पाकिस्तान इसी मूल छलावे की छत्रछाया में पलने वाला राष्ट्र है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि 1972 के शिमला समझौते के अनुरूप तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने तत्कालीन पाकिस्तानी प्रधानमंत्री जेड. ए. भुट्टों के अनुनय पर विश्वास करके जब युद्धबन्दियों व विजित क्षेत्रों को लौटा दिया और कश्मीर का वह भू–भाग जिस पर उनका पहले से कब्जा है, उसे रहने दिया तो कुछ ही वर्ष बीतने के बाद पाकिस्तानी हुक्मरानों ने भारत के विरूद्ध ऐसा रवैया अपनाया जैसे वे मुहम्मद गोरी के वंशज हों और भारत के ऊपर बार–बार हमला करने या उसे रक्तरंजित बनाने के लिए उद्यत हों। भारत के विरूद्ध पाक–प्रायोजित छाया युद्ध और जेहादी आतंकवाद इसी प्रक्रिया की कड़ी है। दूसरी ओर भारत एक ऐसा राष्ट्र सिद्ध हो रहा है जो बार–बार क्षमा कर देने एवं भूल जाने पर यकीन करता है और हर बार वह रक्तरंजित होता है। प्रश्न उठता है कि 'क्षमा एवं विस्मृति' का भाव कब तक चलेगा? कब तक जन–धन हानि सहते रहेंगे ? क्या इससे भारतीय नेतृत्व के प्रति जन–मानस में आक्रोश नहीं पनपेगा ? निश्चित रूप से इन प्रश्नों के सटीक उत्तर पूर्व–सक्रियता एवं दृढ़ इच्छाशक्ति द्वारा ही सम्भव है।

4. सांस्कृतिक एवं बौद्धिक सम्पन्नता :

प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में उसकी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक सम्पन्नता का विशेष स्थान होता है। भारत के संदर्भ में यह मानना उपयुक्त होगा कि 'चरम सत्य की अनुभूति' भारतीय समाज की सांस्कृतिक जीवन–धारा है, जो राष्ट्रीय–जीवन के सभी स्तरों एवं पहलुओं को आबद्ध करती है और जन–जन के हृदय में उदात्तता, पवित्रता, सच्चरित्रता, धैर्य, कर्तव्यपरायणता एवं आत्मबलिदान की भावना का संचार करती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि भारतीय संस्कृति हजारों वर्षों से समाज को उसके उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अभिप्रेरित करती रही है। यही नहीं, बल्कि ऐहिक को 'अलौकिकता' प्रदान करने वाली इस संस्कृति की छाप

हमारे दैनिक जीवन में भी अभिव्यक्त होती है। 'धर्म', 'अर्थ', 'काम', 'मोक्ष' की धारणा ऐसी ही मान्यताओं से आवेष्टित है।

भारत ने राष्ट्र के रूप में अपने हजारों वर्षों की कालावधि में असंख्य संत–महात्माओं, शूरवीरों, समाज सुधारकों एवं ऐसे महापुरूषों की देदीप्यमान मानव–श्रृंखला का निर्माण किया है, जिन्होंने चरम सत्य या यथार्थ की अनुभूति के मार्ग में भारतीय समाज का नेतृत्व किया और भौतिक समृद्धि तथा प्रतिष्ठा की प्राप्ति में मार्गदर्शन दिया। समाज के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं एवं महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति, विकास एवं सुरक्षा हेतु आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सैन्य व्यवस्थाओं के निर्माण में उल्लेखनीय योगदान दिया। इस दीर्घ कालखण्ड में भारतीय समाज को अपने अस्तित्व एवं उत्तरजीविता हेतु सम्पदा एवं आपदा, मित्रता एवं शत्रुता, स्वार्थपरता एवं परोपकार आदि सभी तरह के भावों की अनुभूतियाँ होती रही हैं। ये अनुभूतियाँ राष्ट्रीय गौरव को गहराई तक प्रभावित करती रही हैं।

भारत के राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि में उसके दर्शन, साहित्य, कला, संगीत, धर्मशास्त्र, शस्त्र विद्या और ज्ञान–विज्ञान की विविध शाखाओं को भी बड़ा महत्व दिया गया है। प्राचीन भारतीय चिन्तन में विद्या को अमरत्व प्राप्त करने का साधन माना गया है और बौद्धिक सम्पन्नता से विहीन व्यक्ति को पशु के समान बताया गया है। इस दृष्टि से, प्राचीन काल से आजतक सृजित, संचित एवं प्रसारित ज्ञान–विज्ञान विविध ग्रन्थों के पृष्ठों में सुरक्षित है। समस्त वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि भारत की प्राचीन परम्परा, संस्कृति, धर्म एवं समाज की उत्तरजीविता का तत्व दर्शन कराते हैं, जिनसे भारत की समूहगत 'अनेकता में एकता' का भावात्मक बौद्धिक चित्रण होता है। 21वीं शताब्दी ज्ञान–युग है, जिसमें भारत ज्ञान की महाशक्ति बनने की राह पर अग्रसर है और सच्चे अर्थ में ज्ञान व विवेक का संयोजन करने में सक्षम है।

5. राष्ट्रीय–संचेतना एवं राष्ट्रीय हितों की साधना :

राष्ट्र के व्यावहारिक जीवन में मातृ–भूमि के प्रत्येक भाग की अखण्डता एवं प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देने की भावना की अभिव्यक्ति ही उसकी राष्ट्रीय संचेतना है। इस प्रकार की राष्ट्रवादी चैतन्यता के अभाव में हम आन्तरिक और वाह्य खतरों एवं चुनौतियों के संघात से राष्ट्रीय हितों की रक्षा या वृद्धि नहीं कर सकते। इसलिए हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए स्फूर्ति, क्रियात्मकता एवं पराक्रम की भावना जाग्रत रखें। पराजय या अनादर की परिस्थितियों का अनुमापन करें, जिससे सही सबक लिया जा सके और राष्ट्रीय अस्मिता एवं स्वाभिमान को पुनर्जीवित किया जा सके। सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि सबलता, राष्ट्रीय संकल्प एवं महत्वाकांक्षायें खत्म न होने पायें।

जहाँ तक राष्ट्रीय हितों का सम्बन्ध है, प्रत्येक दशा में राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि दूसरे राष्ट्रों द्वारा उसकी भौतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहचान का अतिक्रमण न होने पाये। इसके लिए सत्तारूढ़ सरकार द्वारा राष्ट्रीय हितों पर

केन्द्रित नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वन पर निरन्तर ध्यान देना आवश्यक है। इस संदर्भ में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में राष्ट्र को अपनी भौगोलिक सीमाओं के अन्दर लोक कल्याण, वाह्य आक्रमण से अपनी रक्षा तथा अपने मूलभूत मूल्यों एवं जीवन–पद्धति के उन्नयन का प्रयत्न करना चाहिए।

6. अनुकरणीय नेतृत्व एवं आदर्श

निस्संदेह, नेतृत्व की महानता या अक्षमता, बुद्धिमत्ता या विवेकहीनता, प्रभावकारिता या लाचारी का राष्ट्र की शक्ति व प्रतिष्ठा पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। सच यह है कि वर्तमान परिवेश में भारत को अनेक आन्तरिक एवं वाह्य चुनौतियों एवं खतरों से जूझना पड़ रहा है। नीति निर्माण एवं व्यवहार के स्तर पर मूल समस्या यह है कि दलगत राजनीति, राजनीतिक स्वार्थपरता, लोकतांत्रिक मूल्यों एवं संस्थाओं के प्रति उपेक्षा का भाव, राष्ट्रीय हितों से जुड़े अनेक मुद्दों पर भावनात्मक एकीकरण का अभाव एवं बढ़ता तदर्थवाद, केन्द्र व राज्यों के स्तर पर संकुचित राजनीतिक सोच एवं दाव–पेंच, जनहित के स्थान पर राजनेताओं द्वारा स्वहित को वरीयता, बढ़ते भ्रष्टाचार आदि ने भारतीय लोकतंत्र को दीमकों की तरह खोखला करने में कोई कसर नहीं छोड़ा है। राष्ट्रीय सुरक्षा, मानव सुरक्षा और जन–कल्याण के लिए दीर्घकालिक नियोजन वर्तमान दौर में दुष्कर कार्य सिद्ध हो रहे हैं। क्या ये कार्य बिना सक्षम, विवेकशील, दूरदर्शी एवं क्रियाशील नेतृत्व के सम्भव हैं ? क्या राष्ट्रीय सुरक्षा व गौरव से जुड़े मुद्दों का हल ढूँढने में सत्ता व विपक्ष में निर्णयात्मक एकरूपता परिलक्षित होती है ? क्या वर्तमान पीढ़ी के नेताओं में अनुकरणीय नेतृत्व एवं सूझ–बूझ है ? इन प्रश्नों के उत्तर आसान नहीं हैं।

वस्तुतः वैश्वीकरण ने 'वैश्विक सोच, स्थानीय अमल' का जो वशीकरण मंत्र दुनिया को दिया, उससे भारत भी अछूता नहीं रह सका। उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के त्रिकूट ने परम्परा, संस्कृति, सुरक्षा, अर्थव्यवस्था, पूँजी–निवेश, व्यापार, प्रौद्योगिकी के मार्ग में विद्यमान सारे बंधनों को तोड़ दिया है। फलतः इस दौर में राष्ट्रीय नेतृत्व के समक्ष अनेक दुष्कर चुनौतियाँ हैं और 'अनुकरणीय' व्यक्तित्व एवं कृतित्व के नेताओं की सफल तलाश भारत में मृग–मरीचिका जैसी प्रतीत होती है। सर्वाधिक विषम परिस्थितियाँ सुरक्षा एवं अर्थ–व्यवस्था के क्षेत्र में है। 11 सितम्बर 2001 को अमेरिकी वैभव के प्रतीक 'विश्व व्यापार केन्द्र' पर आतंकवादी हमले के बाद, अफगानिस्तान की भूमि से प्रारम्भ हुए 'आतंकवाद विरोधी वैश्विक युद्ध' के दौरान दक्षिण एशिया में, खासतौर से भारतीय संसद पर हुए आतंकवादी हमले से लेकर मुम्बई में 26/11 तक पाकिस्तान–समर्थित आतंकी प्रहारों ने सुरक्षा के पारम्परिक प्रतिमानों को असंतुलित कर दिया है।

इस कठिन दौर में भारतीय नेतृत्व की दुश्वारियाँ बढ़ गयी हैं, क्योंकि एक ओर राष्ट्र की जनता को 'भय से मुक्ति' तथा दूसरी ओर आयी आर्थिक मंदी के आघात को सहन करने की दृढ़ राष्ट्रीय इच्छाशक्ति के साथ 'अभाव से मुक्ति' चाहिए। स्पष्टतः आंशिक सफलता के ही आसार हैं। फिर भी हमें अपने राष्ट्र को महान बनाने का प्रयत्न जारी रखना चाहिए और कर्तव्य–विमुख नहीं होना चाहिए। इसके

लिए व्यक्ति की तरह राष्ट को स्वधर्म के मूलाधार पर जमे रहना चाहिए, तभी राष्ट्र की प्रतिष्ठा कायम रह सकती है। 'भगवद्गीता' में कहा गया है–

'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मो भयावह'

(अर्थात् स्वधर्म का पालन करते हुए मृत्यु प्राप्त होना भी कल्याणकारी है, दूसरे का धर्म ग्रहण करना भयावह है।)

हमारा इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि इस देश में ज्ञान–विज्ञान, राजनीति, कूटनीति, आर्थिकी, और सेना जैसे राष्ट्रीय प्रयत्न के सभी क्षेत्रों में 'अनुकरणीय आदर्श एवं नेतृत्व' की कमी नहीं रही है, जिन पर हम गर्व करते हैं। हमारे देश की राष्ट्र–गौरव की धारणा अन्य देशों से पृथक है। हमारे यहाँ भौतिक सम्पदा एवं वैभव को महत्व न देकर मानव–कल्याण के लिए मस्तिष्क एवं हृदय के गुणों को महत्व दिया गया। अन्य देशों के जन समुदाय ने जहाँ किसी महान पराक्रमी शासक, राजनेता या सेनानायक को आदर्श मानकर उसकी अगवानी और पूजा की है, वहीं हमारे देश में बड़े–बड़े पराक्रमी सम्राटों और शूरवीरों ने भी सामान्य जन की तरह, मृग चर्मधारी, अर्द्धनग्न सन्यासियों, संतों, फकीरों, पीर–पैगम्बरों और 'सर्व धर्मसमभाव' उत्पन्न करने वाले धर्मोपदेशकों के चरण–रज लेकर अपने को धन्य माना है हमारी मातृभूमि पर जन्मे, पले–बढ़े अनेकानेक महापुरूषों ने हमें शिक्षा दी है कि 'महानता का मापदण्ड हमारी आन्तरिक सम्पन्नता है, वाह्य नहीं।'

7. उत्तरोत्तर शक्ति की साधना एवं उन्नत युद्धकौशलात्मक अभिरूचि का निर्माण :

'शक्ति' का तात्पर्य उस क्षमता से है जिससे परिणाम प्रभावित हो। 'शक्ति' की यह धारणा व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र सब पर लागू है, इसलिए इसकी सतत् साधना आवश्यक है। राष्ट्र–गौरव की दृष्टि से विचार करने पर, संगठित जीवन से ही समाज में शक्ति का सृजन होता है। शक्ति होगी तो राष्ट्र में सब प्रकार की प्रगति होगी, धन–धान्य व खुशहाली बढ़ेगी और खतरों व चुनौतियों से मुक्ति तथा अन्य राष्ट्रों के मध्य उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। स्वतः की शक्ति न रहने पर राष्ट्र को संकटों व चुनौतियों से छुटकारा पाने के लिए दूसरे सबल राष्ट्रों के आगे याचना करनी पड़ती है। यह प्रवृत्ति गौरव न देकर राष्ट्र–जीवन में मलीनता और हीनभावना भरती है, जिसे बड़ी शक्ति के रूप में उभर रहे भारत की अस्मिता के लिए सर्वथा हानिकारक मानना ही उचित है। चूँकि, तुलनात्मक दृष्टि से राष्ट्रीय शक्ति के अन्तर्गत भौगोलिक, आर्थिक, सैनिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक सभी प्रकार की सबलताएं एवं दुर्बलताएं प्रकट होती हैं, इसलिए उत्तरोत्तर शक्ति–साधना एवं उसके तत्वों में वृद्धि अपरिहार्य है।

इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति की सबलताओं में वृद्धि के साथ–साथ, भारत की सर्वांगीण सुरक्षा तभी सुनिश्चित हो सकती है, जबकि उसके वैध राष्ट्रीय हितों के लिए कोई खतरा या चुनौती न हो। फिर भी संयोगवश, यदि इस प्रकार का खतरा या चुनौती उत्पन्न हो जाय तो वह विभिन्न उपायों द्वारा, यहाँ तक कि युद्ध द्वारा निपटने में पूर्णरूप से सक्षम हो। इसके लिए प्रथम आवश्यकता यह है कि इतिहास

से सबक लेते हुए 'बीती ताहि बिसारि के आगे की सुधि लेहु' की मान्यतानुसार भारत को अपने लिए उन्नत युद्धकौशलात्मक अभिरूचि का निर्माण करने के लिए किसी प्रकार की चूक नहीं करनी चाहिए। इस क्रम में राष्ट्र–गौरव की पहचान हेतु खतरों और चुनौतियों से निबटने के लिए उपलब्ध अवसरों के बारे में सटीक रणनीति बनाने में तत्पर रहना होगा।

भारत पर कुछ विदेशी लोगों ने यह आरोप लगाया है कि इस राष्ट्र में 'युद्धकौशलात्मक संस्कृति' (Stretegic culture) का अभाव है, तभी तो यह अपनी सुरक्षा एवं आर्थिक नीतियों के निर्माण व क्रियान्वयन के लिए पूर्व–सक्रियता नहीं दिखाता है। उदाहरणार्थ, गुजरात के गाँधीधाम स्थित अक्षरधाम मंदिर पर आतंकवादी हमले के बाद यह आरोपित किया गया कि 'क्षमा करने व भूल जाने वाले' राष्ट्र के रूप में भारत हमेशा रक्तरंजित होगा और अपनी अस्मिता खो देगा। हमें अपनी रणनीतिक रूझान को नये सिरे से परिभाषित करना होगा जो यथार्थवाद पर आधारित हों। हमें ऐसी युद्ध कौशलात्मक संस्कृति का वरण करना होगा जिससे 'हमारे लोगों एवं समाज में शक्ति उत्पन्न करने की सामर्थ्य प्रकट हो और हम अपनी इच्छा व सामर्थ्य से संकट की घड़ी में उस शक्ति का प्रयोग कर सकें।' इस प्रकार की अभिरूचि से राष्ट्र–गौरव कायम होगा।

अध्याय–2

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था

(राजतंत्र तथा गणतंत्र)

राज्य समाज से भिन्न है और शासन से भी। किन्तु जिस बिन्दु पर राज्य के प्रति चेतना का जन्म होता है, और उसके कार्य को मान्यता मिलती है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि वहीं से राजशासन का भी उदय होता है तथा समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन होता हे। यद्यपि समाज, राज्य एवं शासनतन्त्र सामान्यतः अलग–अलग घटक के रूप में दिखायी देते हैं तथापि इनका स्वरूप सावयवी है। इनके सहज संश्लेषण से ही व्यवस्थित समाज एवं संस्कृति का क्लेवर उभरता है। शासन–तन्त्र राज्य का ही संस्थागत रूप है। राज्य, शासन–तन्त्र के माध्यम से ही समाज को व्यवस्थित करता है। जैसे–जैसे राज्य संस्था का विकास होता गया, वैसे–वैसे वह समाज का नियामक होता गया। समाज की सामूहिक चेतना पर भी राज्य संस्था का प्रभाव होता है। इसीलिए प्राचीन साहित्य में "राजा कालस्य कारणम्" कहा गया।

शासन का उदय किसी एक ऐसे व्यक्ति अथवा समूह से होता है, जिसमें अधिकार निहित हो। सम्भवतः यही वह बिन्दु है जब राज्य की अवधारणा अंकुरित होने लगती है। राजा की स्थिति राज्य के विकास के प्रारम्भिक चरण में कबीलाई मुखिया अथवा वंश के मुखिया की थी। वस्तुतः राजा एक ऐसे केन्द्रीय पद से उदय का प्रतिनिधित्व करता है जो राज्य की आवश्यकताओं का संयोजन करता है। आधुनिक राज्यशास्त्रियों ने राज्य के जिन चार घटकों– सरकार, जनसंख्या, क्षेत्र एवं सम्प्रभुता को बताया है, इनमें राज्य के विकास के प्रारम्भिक चरण में जनसंख्या, मुखिया अथवा राजा एवं उसके सजातों के रूप में सरकार का अस्तित्व ही दिखायी देता है। वहाँ सुनिश्चित क्षेत्र, अनुपस्थित है। वस्तुतः राज्य का आरम्भिक ढांचा पशुचारी समाज में निर्मित बंधुविहीन संगठन के अनुरूप था, कबिलाई समाज में सबसे देदीप्यमान, ओजस्वी, ताकतवर व्यक्ति ही राजा के रूप में मनोनीत अथवा निर्वाचित होता था। वह अपने सजातों के माध्यम से ही कबिलाई समाज की व्यवस्था करता था।

ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन साहित्य में प्रायः समान रूप से राज्य–पूर्व की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन मिलता है। ऐसा कहा गया है कि प्राकृतिक अवस्था में समाज धर्म द्वारा संचालित था, जिसमें लोगों का जीवन सुखी तथा संतुष्ट था। मानव–जीवन की आवश्यकतायें कम थीं जो बिना कठिनाई के पूर्ण हो जाती थीं। इस अवस्था में

क्षुधा की पूर्ति के प्रमुख साधन जंगली वृक्षों एवं लताओं से प्राप्त फल–फूल तथा अरण्यचारी पशु थे। पुराणों एवं जैन–ग्रन्थों में कल्पवृक्षों का वर्णन प्राप्त होता है जो इच्छा होने पर मनुष्यों को फल प्रदान करते थे। बौद्धग्रन्थों में भी जीवन–निर्वाह के प्रमुख साधन के रूप में वनलताओं का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार की स्थिति को प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में 'कृतयुग' की संज्ञा दी गयी है। यह अवस्था आधुनिक समाजशास्त्रियों एवं नवज्ञानिकों द्वारा कल्पित उस आदिम अवस्था से साम्य रखती है जिसमें मानव–समूह खाद्य–संग्रह एवं आखेट द्वारा जीवन यापन करते थे। राज्य–संस्था के विकास के पूर्व की इस अवस्था में न तो सम्पत्ति के ढाँचे का समुचित विकास हो सका था और न ही परिग्रह की प्रवृत्ति का उन्मेष हो सका था।

राज्य–पूर्व की प्राकृतिक अवस्था में मानव–जीवन के प्राकृतिक आहार पर आधारित होने की बात स्वीकार की गयी है। इस प्राकृतिक अवस्था में सभी प्रकृति प्रदत्त सुविधाओं एवं संसाधनों पर सबका अधिकार था। आधिपत्य, परिग्रह एवं लोभ जैसी भावनाओं से मुक्त मानव जीवन सहज रूप से गतिमान था। इस अवस्था को एंजिल्स ने आदिम साम्यवाद की संज्ञा प्रदान की है। ए०एस० डाँगें ने पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर इस आदिम अवस्था के अस्तित्व को भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में मान्यता प्रदान की। इन विद्वानों के अनुसार मानव–जीवन का यह सहज, सुन्दर एवं आनन्दमय प्रवाह पशुपालन एवं कृषि जैसे व्यवसायों के विकास के साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्ति, परिवार जैसी संस्थाओं के उदय तथा समाज में वर्ग विभाजन की प्रवृत्ति के कारण भंग हो गया। ब्राह्मण ग्रन्थों, महाकाव्यों, पुराणों एवं बौद्ध–जैन ग्रन्थों के साक्ष्य समवेत रूप से इस बात का संकेत करते हैं कि कृत युग में सम्पत्ति, परिवार एवं वर्ग जैसी संस्थाओं का अभाव था। इन संस्थाओं के अभाव में राज्य–संस्था की कोई आवश्यकता नहीं थी। वस्तुतः इन संस्थाओं का राज्य संस्था के विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है। इन नवोदित् संस्थाओं के अनुरक्षण हेतु ही राजा अथवा राज्य की आवश्यकता का अनुभव हुआ। यहाँ प्राचीन भारतीय साहित्य में उल्लिखित राज्य पूर्व की परिस्थितियों तथा राजा अथवा राज्य के उदय की परिस्थितियों के मध्य विकास के अनेक सोपान दिखायी देते हैं।

राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में जो पौराणिक आख्यान मिलते हैं उनके निहितार्थों के अनुसार प्राकृतिक अवस्था एवं राज्य के उदय के मध्य सम्पत्ति परिवार एवं सामाजिक वर्ग विकसित हुए और इन्हीं के अनुरक्षण हेतु राजा की आवश्यकता हुई। प्राचीन ग्रन्थों में इस बात के संकेत मिलते हैं कि इन संस्थाओं के संरक्षण हेतु ही ब्रह्मा ने राजधर्म बनाया, विष्णु ने अपने मानस से विरजस को राजा के रूप में उत्पन्न किया। मनु ने प्रियव्रत एवं उत्तानपाद नामक व्यक्तियों को राजपद प्रदान किया। ब्राह्मण चिन्तकों ने राजा के देवत्व की भी परिकल्पना की। मनुस्मृति में स्पष्टतः उसे मनुष्य के रूप में देवता घोषित किया गया। इसका उद्देश्य लोगों में राजभक्ति का भाव उत्पन्न करना था। इसके विपरीत बौद्ध परम्परा में राजा के लोक द्वारा निर्वाचित इसके प्रतिनिधि होने की बात कही गयी है। बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय में कहा गया है कि लोगों में समाज में व्याप्त अव्यवस्था से मुक्ति पाने

के लिए एक व्यक्ति को राजा चुना, जिसे 'महाजनसम्मत' कहा गया है। जैसा कि महाजनसम्मत शब्द से ही इंगित है कि वह व्यक्ति सभी लोगों की सम्मति से राजा बनाया गया। बौद्ध साहित्य गणों की व्यवस्था से प्रभावित था।

यहाँ राज्य संस्था के विकास का एक सर्वेक्षण करना आवश्यक है। मानव जाति के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद के सन्दर्भों से संकेत मिलता है कि पूर्व वैदिक काल में राजनीतिक संगठन का स्वरूप प्रधानतः जनजातीय था। ऋग्वेद की रचनाकाल तक क्षेत्रीय राज्यों का उदय नहीं हो सका था। राजा जन का रक्षक माना जाता था। यद्यपि ऋग्वेद में शासकों के लिए राजन् शब्द का अनेकशः प्रयोग मिलता है। किन्तु ऋग्वेदीय राजत्व का स्वरूप वैसा विकसित नहीं था जैसा कि उत्तर–वैदिक युग अपना परवर्ती काल में दिखायी देता है। इस काल में पशु एवं उसके उत्पाद ही सम्पत्ति के मुख्य ढाँचे का निर्माण करते थे। पशुओं के लिए जनों के मध्य युद्ध होते थे। राज–शक्ति के विकास में निरन्तर होने वाले जनजातीय संघर्षों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। राजा युद्ध में अपने जन का नेतृत्व करता था एवं वाह्य आक्रमणों से जन तथा पशुधन की रक्षा करता था। उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद में जहाँ 'जन' शब्द की आवृत्ति 275 बार हुयी है वहीं 'जनपद' शब्द का उल्लेख बिलकुल नहीं हुआ है। निष्कर्षतः राज्य के अंग के रूप में क्षेत्र की परिकल्पना अभी विकसित नहीं हो पायी थी। वस्तुतः पूर्व वैदिक युग के 'जन' एवं 'ग्राम' अधिकांशतः भ्रमणशील अवस्था में थे। इस अभावशील परिवेश में ही राजत्व की अवधारणा अंकुरित हुई तथा क्रमशः इसका पल्लवन हुआ। ऋग्वेद में राजत्व सूचक गोपा, राजा, क्षेत्र, गणपति, सम्राट, अधिराट आदि शब्द इस बात का संकेत करते हैं कि राजनीतिक संगठन का स्वरूप एक स्तर सर्वत्र समान नहीं था। कृषि के विकास के साथ ही भ्रमणशील जीवन में स्थिरता आयी और कुछ जनों की क्षेत्रीय पहचान निर्धारित हुई। इस प्रक्रिया में क्रमशः राष्ट्र की अवधारणा भी विकसित हुई। ऋग्वेद के लगभग दस स्थलों पर क्षेत्र सूचक राष्ट्र शब्द का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में उल्लिखित 'गोपा' शब्द राजत्व के प्रारम्भिक स्वरूप की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद में 'विश' और 'जन' के रक्षक के रूप में 'गोपा' का उल्लेख हुआ है। 'गोपा' शब्द का मूल अर्थ पशुओं का रक्षक है। क्रमशः यह शब्द सामान्य रूप से 'रक्षक' का और अन्ततः 'राजन' का पर्यायवाची बन गया। ऋग्वेद में 'विशांगोपा', 'वृजजस्य गोपा', 'भुवनस्थ गोपा', 'ऋतस्थ गोपा' आदि अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं। राजा के रूप में परिकल्पित इन्द्र, सोम, वरुण आदि देवताओं के लिए भी गोपा विशेषण का प्रयोग हुआ है। ऋग्वैदिक राजत्व में स्थायी सैन्य–संगठन एवं नियमित राजस्व का विकास नहीं हो सका था। राजा की आय का मुख्य स्रोत जन के सदस्यों से समय–समय पर मिलने वाला उपहार तथा युद्धों से प्राप्त होने वाला लूट का धन था। ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों में 'बलि' शब्द का उल्लेख मिलता है। जनसाधारण को 'बलिदृत' अर्थात बलि देने वाला कहा गया है। जन के सदस्यों द्वारा समय–समय पर स्वेच्छया उपहार देने की प्रथा प्रचलित थी और इसी को 'बलि' कहा जाता था। ऋग्वेद में अधर्म सेनानी एवं सेना की चर्चा मिलती है। किन्तु

यह सजातों की सेना होती थी न कि नियमित वेतनभोगी सेना। 'संग्राम' शब्द से ध्वनित होता है कि युद्ध के समय विभिन्न ग्रामों के सदस्य एकत्रित हो जाते थे। व्राजपति, ग्रामणी, कुलपा, गणपति आदि की भूमिका दलपति की होती थी जो युद्ध में अपने–अपने दलों का नेतृत्व करते थे। ऋग्वेद में लगभग आधे दर्जन ऐसे पदनाम भी मिलते हैं जो शासनतन्त्र से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। ये नाम हैं– सेनानी, ग्रामणी, स्पश, दूत, उग्र, जीवगृभ, व्राजपति, आदि। स्पश गुप्तचर होते थे, ग्रामीणी के सैनिक एवं नागरिक दोनों तरह के कार्य थे। व्राजपति सम्भवतः गोचर भूमि की देखरेख करता था। उग्र एवं जीवगृभ सम्भवतः अपराधों पर नियंत्रण रखने का कार्य करते थे।

ऋग्वेदीय युग के राजनीतिक जीवन में सभा एवं समिति जैसी जनसंस्थाओं का पर्याप्त प्रभाव था। ये जन सभायें राजा की शक्ति को मर्यादित करती थीं। ये जनसभायें राजत्व के जनजातीय स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती हैं। सभा में जन के श्रेष्ठ और वृद्धजन, पुरोहित और गुरुजन आदि एकत्र होते थे। यद्यपि इसमें सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक कार्यों के किये जाने का भी उल्लेख मिलता है तथापि यह मुख्य रूप से न्यायिक कार्य से सम्बद्ध थी। समिति अधिक व्यापक संस्था थी। इसमें न केवल ब्राह्मण एवं समाज के समृद्ध लोग वरन् सामान्यजन भी सम्मिलित होते थे। समिति में राज्य की उपस्थिति अनिवार्य थी। समिति में एकल विश द्वारा राजा का निर्वाचन भी होता था। समिति की सहमति के बिना राजा का अस्तित्व सुरक्षित नहीं था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में समिति में विचारों की एकता पर अधिक बल दिया गया है। इस प्रकार समिति एक राजनीतिक संस्था थी जबकि सभा अनुभवी लोगों की ऐसी संस्था थी जो जन की मुख्य समस्याओं पर ही विचार यदा कदा करती थी। इसका स्वरूप सामाजिक गोष्ठियों का भी हो जाता था। इन दोनों संस्थाओं का ऋग्वैदिक जनजातीय जीवन में महत्व अथर्ववेद के एक मंत्र से प्रमाणित होता है जिसमें कहा गया है कि ये प्रजापति की दो जुडवा दुहितायें हैं। इस प्रकार हम देखतें हैं कि पूर्व वैदिक काल तक राज्य संस्था अपनी शैशवावस्था में ही थी।

उत्तर वैदिक काल तक आते–आते पशुचारी समाज कृषि मूलक समाज में परिवर्तित हो गया। अब न केवल जीविका यापन का आधार कृषि उत्पाद हो गया अपतु कृषि क्षेत्र में लौह–प्रविधि के प्रयोग के कारण अधिशेष उत्पादन भी होने लगा। लौह–प्रविधि के कारण नाना प्रकार के व्यवसायों एवं शिल्पों का विकास भी हुआ। इसके परिणामस्वरूप साधारण जन राजा के नियमित कर देने लगे। कृषि के विकास के कारण उत्तर वैदिक काल तक ऋग्वैदिक काल के जन जनपदों में परिवर्तित हो गये। इस काल में कुरु, पांचाल, मत्स्य, कोसल, काशी, विदेह आदि प्रादेशिक राज्यों की स्थापना हुयी। इसके साथ ही साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का भी विकास हुआ। उत्तर वैदिक काल में एकराट शासन की अवधारणा विकसित हुई, जिसके अन्तर्गत समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को स्थान दिया गया। सार्वभौम पद की प्राप्ति तथा सागर–वेष्टित पृथ्वी का स्वामी बनने के लिए धर्मभीरु शासकों ने वैदिक

कर्मकाण्डों का आश्रय लिया। परिणामतः अश्वमेध, वाजपेय, राजसूर्य, ऐन्द्र महाभिषेक जैसे यज्ञ शासकों के बीच लोकप्रिय हुए। शतपथ ब्राह्मण में राज्य को हीन तथा साम्राज्य को श्रेष्ठ घोषित किया गया। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति समुद्र–पर्यन्त पृथ्वी का एकराट् बनना चाहे वह ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा अभिषिक्त हो। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से शासक–गण विशेष राजनीतिक सफलताओं के अभाव में भी इन विशिष्ट यज्ञों के सम्पादन द्वारा ही सम्राट, एकराट् और सार्वभौम पद के अधिकारी मान लिये जाते थे। इस काल में प्रादेशिक राज्यों की स्थापना के साथ शासन के क्षेत्र में भी अनेक नये प्रयोग हुए। समकालीन ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियों के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, राज्य, स्वराज्य, भौज्य और वैराज्य नामक शासन प्रणालियों का उल्लेख है। इनमें से प्रथम दो तो राजतन्त्र के ही प्रकार प्रतीत होते हैं। इनका प्रचलन क्रमशः प्राच्यदेश और मध्यदेश में था। उल्लेखनीय है कि उत्तर–वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में अधिकांश की रचना मध्यदेश में ही हुई। कुरु पांचाल के शासकों ने ही राजसूय यज्ञ का सम्पादन भी विशेष रूप से किया। ऐसी स्थिति में राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों के सन्दर्भ में प्रायः नृपतन्त्रात्मक राज्यों की व्यवस्था का ही विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत अन्य शासन पद्धतियों के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना का सर्वथा अभाव है। महाभारत तथा अर्थशास्त्र के अतिरिक्त प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से ज्ञात तथ्यों से स्वराज्य, भौज्य और वैराज्य जैसे जनतान्त्रिक अथवा कुलीनतन्त्रात्मक, शासन पद्धतियों के सम्बन्ध में सूचनायें मिलती हैं। उत्तर–वैदिक काल तक वर्ण व्यवस्था काफी सुदृढ़ हो चुकी थी। विभिन्न वर्णों के अधिकार कर्तव्य स्थापित हो चुके थे। ऐसी सोपानात्मक सामाजिक व्यवस्था जनतांत्रिक शासन–पद्धति के विकास के लिए अनुकूल नहीं थी। सम्भवतः इसी कारण स्वराज्य, वैराज्य एवं भौज्य शासन प्रणालियाँ वैदिक संस्कृति के केन्द्र मध्यदेश से दूर प्रतीच्य, उदीच्य एवं दात्रिणात्य क्षेत्रों में प्रचलित हुयीं।

आज के उत्तरी बिहार में स्थित वज्जिसंघ का महात्मा बुद्ध के काल में उल्लेख मिलता है, जिसमें लिच्छवि, ज्ञात्रिक, विदेह और वज्जि सम्मिलित थे। सिकन्दर के साथ भारत आने वाले इतिहासकारों ने कतिपय नगर–राज्यों का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार पश्चिमोत्तर भारत में नीसा एक नगर राज्य था। मौर्योत्तर काल में भी कपिशा, पुष्पकलावती, त्रिपुरा, माध्यमिका, उज्जैनी, कौशाम्बी, वाराणसी, अयोध्या आदि स्थानों पर नगर राज्यों का अस्तित्व था।

राजा की शक्ति और प्रभाव में बहुत वृद्धि हो चुकी थी। राज्याभिषेक के अवसर पर अभिषिक्त राजा को राजा और राजपितृ कहकर सम्बोधित किया गया है। इससे राजपद का आनुवंशिक होना प्रमाणित होता है। शतपथ ब्राह्मण में दस पीढ़ियों के शासकों का उल्लेख मिलता है। वर्ण व्यवस्था के विकास के साथ वंशानुगत व्यवसाय को सैद्धान्तिक स्वीकृत मिली। ऐसी दशा में राजपद का आनुवंशिक होना सामाजिक व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल था। राजा की शक्ति केवल

दैवी विधि नियम द्वारा ही परिसीमित थी। इस काल में राजा सम्पूर्ण राष्ट्र का नियामक और धारक बन गया था। राजा की शक्ति, ऐश्वर्य तथा राज्य के कार्य–क्षेत्र के विस्तृत हो जोने के कारण प्रशासन के क्षेत्र में भी जटिलता उत्पन्न हुयी। इस काल में अनेक ऐसे राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है, जिनका पूर्ववैदिक प्रशासनिक संरचना में कोई स्थान नहीं था। यजुर्वेद की संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में रत्नियों का उल्लेख मिलता है जो राज–परिषद के सदस्य थे। राजसूय के अवसर पर राजा प्रत्येक रत्नी के घर जाकर हवि प्रदान करता था तथा कहता था कि वह राजा का एक रत्न है। उसी के लिए राजा का अभिषेक हुआ है। ये रत्नी, जिनकी संख्या उत्तर वैदिक साहित्य में ग्यारह से लेकर चौदह तक मिलती है, परवर्ती युगीन मंत्रि परिषद् के प्राग्रूप प्रतीत होते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में रत्नियों को राष्ट्र–प्रदाता और राष्ट्र का धारक कहा गया है। इन रत्नियों में– पुरोहित, सेनानी, महिषी, बाबाता, परिवृक्ति, राजन्य, सूत, ग्रामजी तथा संग्रहीत, भागदुध, अक्षावाप, गोविकर्तन और पालागल सम्मिलित थे। इनमें प्रशासनिक अधिकारी, राजा के परामर्शदाता, राजपरिवार के सदस्य राजकर्मचारी तथा प्रमुख शिल्पी सम्मिलित थे। कर संग्रह से सम्बन्धित प्रशासनिक तन्त्र का प्रथम बार इसी युग में उदय दिखायी देता है। रत्नियों में भागदुध एवं संग्रहीत का महत्वपूर्ण स्थान था। भागदुध राज्य का प्रमुख कर संग्राहक प्रतीत होता है। रत्नी सूची का संग्रहित कोषाध्यक्ष था। सेनानी और पुरोहित का भी रत्नी सूची में महत्वूपर्ण स्थान था। सेनानी का महत्व धीरे–धीरे बढ़ रहा था। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में सेनानी को प्रथम स्थान पर रखा गया। महिषी, बावाता एवं परिविक्तृ राजा की रानियाँ थीं। स्त्री सूची का राजन्य भी राज परिवार का ही कोई सदस्य था। अक्षावाप राजा मित्र एवं सलाहकार होता था। तला तथा गोविकर्तन राज्य के शिल्पियों के प्रतिनिधि थे। पालागल संदेशवाहक का काम करता था। सूत राजा का सारथी होता था तथा ग्रामणी ग्राम का मुखिया था। इस प्रकार उत्तर–वैदिक राजा इन रत्नों की सहायता से ही राज्य का संचालन करता था। कालान्तर में ये रत्नी ही मंत्रदाता होने के कारण मंत्री के रूप में प्रतिष्ठित हुए और मन्त्रि मण्डल को राज्य की संरचना में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

आगे चलकर राज्य की संरचना में मन्त्रिमण्डल का महत्व और अधिक बढ़ गया। अर्थशास्त्र की रचनाकाल तक राज्य का सप्तांग सिद्धान्त एवं द्वादश राजमण्डल का सिद्धान्त विकसित हुआ। सप्तांग सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य के सात अंगों के स्वरूप एवं महत्व का निरूपण हुआ। इसमें महत्व की दृष्टि से मन्त्रिमण्डल को राजा के बाद दूसरा स्थान दिया गया। कहा गया कि राज्य रूपी रथ के दो पहियों में– एक पहिया राजा है और दूसरा पहिया मंत्रिमण्डल है। किसी भी एक पहिये के अभाव में राज्य रूपी रथ का संचालन असम्भव है। धर्मशास्त्रों, नीतिशास्त्रों, महाकाव्यों और अभिलेखों से मंत्रि परिषद् के स्वरूप, गठन, कार्य एवं संख्या का ज्ञान प्राप्त होता है। मंत्रि परिषद् के सदस्यों को स्थूलतः मंत्री, अमात्य एवं सचिव कहा जाता था। अर्थशास्त्र एवं कामन्दक नीतिसार के विवरण से स्पष्ट होता है कि

मंत्रि परिषद् एवं अमात्य परिषद् में अन्तर था। मंत्रि परिषद् में नीति निर्धारक सदस्य होते थे, जिन्हें अर्थशास्त्र में 'मंत्रिणः' कहा गया है। इसकी सदस्य संख्या सीमित होती थी। अमात्य–परिषद के सदस्य एक निश्चित सेवा संवर्ग के सदस्य होते थे। इनकी संख्या राज्य की आवश्यकतानुसार घटती–बढ़ती रहती थी। अर्थशास्त्र के अनुसार 'उपधा' विधि द्वारा मंत्रियों के योग्यता एवं गुणों की पहचान की जाती थी। अर्थोपधा शुद्ध व्यक्ति को कोष अथवा राजस्व का काम सौंपा जाता था। धर्मोपदा शुद्ध व्यक्ति को न्यायाधिकारी अथवा प्रधान पुरोहित का काम सौंपा जाता था। कामोपधा शुद्ध व्यक्ति को अन्तःपुर और गणिकाध्यक्ष का काम सौंपा जाता था। सर्वोपधा शुद्ध व्यक्ति को ही प्रधानमंत्री जैसे पदों पर नियुक्त किया जाता था। सामान्यतः मंत्रियों की योग्यता में उनकी कुलीनता, स्वाभिव्यक्ति, दूरदर्शिता, बुद्धि कौशल, उत्साह आदि को महत्व दिया जाता था। भारतीय इतिहास में अनेक मंत्रियों ने अपनी योग्यता के कारण ख्याति प्राप्त की। इनमें अजातशत्रु का मंत्री बस्सकार, चन्द्रगुप्त मौर्य का कौटिल्य, समुद्रगुप्त का हरिषेण, चन्द्रगुप्त द्वितीय का वीरसेन आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कौटिल्य ने राज्य के जिन सात अंगों का उल्लेख किया है वे हैं– स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र।

आधुनिक राज्यशास्त्रियों द्वारा दी गयी राज्य की परिभाषा में तत्व कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त में समाहित है। राज्यशास्त्र से सम्बन्धित परवर्ती ग्रन्थों में भी सप्तांग सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है। यह कहा गया है कि इन सभी अंगों के स्वस्थ एवं संतुलित होने से राज्य का उत्कर्ष होता है। राज्य की तुलना शरीर से करते हुए कहा गया कि जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग के क्षतिग्रस्त हो जाने से पूरा शरीर अस्वस्थ हो जाता है उसी प्रकार राज्य के किसी अंग के कमजोर हो जाने पर पूरा राज्य कमजोर हो जाता है। सप्तांग सिद्धान्त की भाँति ही कौटिल्य का द्वादश राजमण्डल का सिद्धान्त भी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का एक सैद्धान्तिक प्रारुप प्रस्तुत करता है जो व्यावहारिक और तर्कसंगत लगता है। सप्तांग सिद्धान्त एवं द्वादश राजमण्डल की अवधारणा का उदय ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में हुआ लगता है जिसे बाद में अर्थशास्त्र में लिपिबद्ध किया गया। छठीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में राज्य संस्था सेना एवं कोष से सम्बन्धित होकर पूर्ण विकसित हो चुकी थी। इस काल में पूरे देश में परस्पर संघर्षरत छोटे–छोटे राज्यों का अस्तित्व दिखायी देता है। बौद्ध ग्रन्थ अवदान शतक के अनुसार उनमें कुछ राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति से शासित थे और कुछ गणतान्त्रिक शासन पद्धति से। जैन ग्रन्थ आचारांग सूत्र के अनेक प्रकार की शासन पद्धतियों की चर्चा करते हुए गणराज्यों का उल्लेख किया गया है। सिकन्दर के समकालीन यूनानी इतिहासकारों ने भी पंजाब एवं सिन्ध क्षेत्र में मालव–शुद्रक आदि अनेक गणतन्त्रों का उल्लेख किया है। मुद्राओं से भी गणराज्यों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। मुद्राओं पर "चौधेय गणस्य जयः', 'वृष्णि गणस्य जयः' अंकित मिलता है जो गणों की स्थिति के प्रमाण हैं। बुद्ध के काल में गणतन्त्रों की एक सुदीर्घ श्रृंखला हिमालय के उपत्यका में आधुनिक गोरखपुर से लेकर मुजफरपुर तक दिखायी देता है। गणराज्यों में कुछ 'शस्त्रोपजीवी' के कुछ

'राजशब्दोपजीवी'। बुद्धकालीन गंगा घाटी के गणराज्यों में– कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, पावा के मल्ल, कुसीनारा के मल्ल, मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छवि, केशपुत्त के कालाम, अल्लकप्प के बुलि, तथा सुंसुमार गिरि के भग्ग प्रमुख थे।

गणतान्त्रिक शासन पद्धति में शासन की शक्ति एक व्यक्ति में निहित न होकर सम्पूर्ण गण में निहित होती थी। सन्धि–विग्रह, पदाधिकारियों का चयन आदि सभी महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय संस्थागार में लिया जाता था। संस्थागार के सदस्य सामान्य तौर पर अपने को राजा कहते थे। संस्थागार में सदस्यों की नियमित बैठकें होती थीं। बैठक नियत स्थान पर होती थी और इस स्थान को ही संस्थागार कहते थे। संस्थागार के सदस्यों के एक मत नहीं होने पर मतदान द्वारा बहुमत के आधार पर निर्णय लिया जाता था। सभा की कार्यवाही की अध्यक्षता गणप्रमुख करता था। जो गण के सदस्यों द्वारा बहुमत से निर्वाचित होता था। गण प्रमुख द्वारा ही गण के निर्देश पर राज्य संचालन किया जाता था। यद्यपि संस्थागार की सदस्यता के आधार पर इसे कुलीनतन्त्र अथवा अभिजात तन्त्र कहा जा सकता है, किन्तु इनकी कार्य पद्धति जनतान्त्रिक थी। गणतन्त्र साम्राज्यवादी नहीं थे, इनकी नीति प्रतिरक्षात्मक थी जो गणतन्त्रों के पतन का एक महत्वपूर्ण कारण बनी। गण के सदस्य न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति धारण कर सकते थे और न ही राजतन्त्र के राजा की भाँति बड़ी–बड़ी उपाधियाँ। गणतन्त्रों की न्याय–व्यवस्था अत्यन्त उदार थी। इसमें न्याय के अनेक सोपान थे। अपराधी को अपने को निर्दोष सिद्ध करने का पूरा अवसर दिया जाता था। राजतन्त्रों की साम्राज्यवादी लिप्सा के समक्ष गणतन्त्र लम्बे समय तक टिक नहीं सके। कतिपय गणतन्त्रों ने अपने को राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति में परिवर्तित कर लिया। गणतान्त्रिक शासन पद्धति की जो खूबियाँ थीं, वही अन्ततः उनकी कमजोरियाँ सिद्ध हुयीं। मगध अजातशत्रु द्वारा लिच्छवियों के संहार के साथ गणराज्यों के पतन की कहानी प्रारम्भ होती है, जिसका अन्त समुद्रगुप्त के दिग्विजयी नीति के साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजनीतिक परिदृश्य से गणतन्त्रों की समाप्ति के साथ हुई।

मौर्य शासन के अन्तर्गत न केवल एक अखिल भारतीय स्तर का एक साम्राज्य स्थापित हुआ वरन् एक सुदृढ़, केन्द्रीय एवं प्रान्तीय स्तर की प्रशासनिक प्रणाली भी विकसित हुई। मौर्यवंशी शासकों ने नगर एवं ग्राम स्तर की प्रशासनिक इकाईयाँ भी इस दृष्टि से विकसित की कि साम्राज्य के दूरस्थ क्षेत्रों पर भी राज्य का नियंत्रण स्थापित हो सके। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मेगस्थनीज के इण्डिका के उद्धरणों से मौर्य प्रशासन के विकसित स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। मौर्य प्रशासन के पिरामिडाकार स्वरूप का आकलन उनके वेतनमान से होता है जो 48000 पण से लेकर 60 पण तक था। प्राचीन भारत के विभिन्न परवर्ती राजवंशों ने मौर्य शासन पद्धति को ही न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ अपने आदर्श के रूप में स्वीकार किया। मौर्य प्रशासन का जो कल्याणकारी स्वरूप था और जिसका झलक हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों में देखने को मिलती है उसने भी परवर्ती

राजवंशों का प्रशासनिक नीतियों को प्रभावित किया। जहाँ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रजा के सुख को ही राजा का सुख बताया गया है वहीं अशोक के अभिलेखों में राजा एवं प्रजा में पिता–संतान जैसा सम्बन्ध बताया गया है।

विन्धय के दक्षिण में स्थित राजवंशों की प्रशासनिक व्यवस्था में भी परम्परागत रूप से मौर्य शासन–पद्धति का प्रभाव देखने को मिलता है। इसका थोड़ा सा अपवाद हमें चोल प्रशासन में देखने को मिलता है जहाँ चोलवंशी शासकों ने ग्रामों को विशेष प्रशासनिक स्वायत्तता प्रदान की, जिससे ग्राम सभाओं को लगभग स्वतन्त्र रूप से अपने आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि चोल शासन व्यवस्था के अन्तर्गत भी राज्य सर्वोपरि था किन्तु स्थानीय प्रशासन में राज्य का हस्तक्षेप बहुत कम था। चोल शासनान्तर्गत मुख्य रूप से दो प्रकार की ग्राम सभायें थीं, जिन्हें 'उर' और सभा कहा जाता था। इन दोनों के अतिरिक्त व्यावसायिक नगरों की व्यवस्था देखने वाली सभा– नगरम' कहलाती थी। ये तीनों ही स्थानीय निवासियों की मूल परिषदें थीं। जो सामूहिक हित चिन्तन को दृष्टि में रखते हुए सभी स्थानीय समस्याओं का समाधान तथा विकास कार्यों का व्यवस्था करती थीं। सरकारी नियंत्रण केवल इनके कार्यों की देखभाल तथा आय–व्यय के जाँच तक सीमित था। यह उल्लेखनीय है कि 'उर' और 'सभा' के सदस्य जनसाधारण द्वारा चुने जाते थे, किन्तु सदस्य वही लोग चुने जाते थे जिनका चरित्र उज्ज्वल होता था तथा जो पागल, ऋणी, असाध्य रोगी और अपराधी प्रवृत्ति के नहीं होते थे। सभा कार्यकारिणी 'वारियम' नाम से जानी जाती थी। 'वारियम' में वरण का भाव है जो उनके निर्वाचित सदस्य होने का संकेत करता है। उत्तर मेरुर अभिलेख में वारियम के 30 सदस्यों का उल्लेख मिलता है। वारियम के सदस्यों में से ही वाटिका, सरोवर, मन्दिर आदि के देख–भाल के लिए भी उपसमितियाँ बनायी जाती थीं। सदस्यों की सहायता एवं अभिलेखों की सुरक्षा के लिए कुछ वेतभोगी सहायक भी होते थे जो मध्यस्थ कहलाते थे। चोल शासन के अन्तर्गत प्रत्येक ग्राम की स्थिति एक छोटे से गणतन्त्र की होती थी। ग्राम सभा ग्राम के समस्त आय–व्यय की देखभाल करती थी। यह राजकीय कर का संग्रह करती थी, मन्दिरों को दान करती थी तथा विद्यालय और अस्पताल की भी व्यवस्था करती थी। ग्राम की न्याय व्यवस्था भी इसी के द्वारा संचालित थी। इस प्रकार चोल प्रशासन के अन्तर्गत ग्राम प्रशासन का स्वरूप अत्यन्त जनतांत्रिक, राजकीय हस्तक्षेप से मुक्त, कल्याणी और विकासोन्मुख था।

स्वराज्य शासन पद्धति पश्चिम दिशा में नीच्यों एवं अपाच्यों के बीच प्रचिलत थी। इस गणतान्त्रिक शासन प्रणाली का प्रचलन सिन्ध एवं गुजरात क्षेत्र में था। 'वैराज्य' शब्द का अर्थ होता है राजा–विहीन राज्य। अथर्ववेद में इस तरह के राज्य की पुष्टि होती है। हिमालय के उस पर उत्तर कुरु एवं उत्तर मद्रों में वैराज्य पद के लिए अभिषेक होता था। यह भी गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली थी। दक्षिण में भौज्य शासन का उल्लेख परवर्ती युगों में दिखायी देता है। अशोक के अभिलेख में 'भोज्य' एवं 'पेतनक' का उल्लेख मिलता है। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में

भोजकों की स्थिति विदर्भ के आस–पास बतायी गयी है। इस शासन प्रणाली में राजपद निर्वाचित हुआ करता था। रामायण, महाभारत, जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में भी अराजक राज्य (राजाविहीन) का उल्लेख मिलता है। (नाराजकेष, राज्येष, वसतव्यम इति वैदिकम–रामायण) इसे गणतांत्रिक शासन व्यवस्था का ही सूचक माना गया है। अराजक राज्य भी एक प्रकार की जनतांत्रिक व्यवस्था थी, जिसमें शासन धर्म अथवा परम्पराओं के आधार पर चलता था। अराजक राज्य उन्हीं क्षेत्रों में रहे होंगे, जहाँ का सांस्कृतिक जीवन अविकसित रहा होगा। प्राचीन भारत में द्वैराज्य शासन प्रणाली के अस्तित्व का संकेत भी प्राप्त होता है। द्वैराज्य के अन्तर्गत समान अधिकारों से युक्त दो राजा सम्मिलित रूप से शासन करते थे। जैन ग्रन्थों में 'दो रज्जाणि' का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः द्वैराज्य शासन में भी राजाओं में परस्पर विरोध हो जाता था तो उन्हें विरूद्ध राज्य कहते थे। महाभारत से ज्ञात होता है कि 'विन्द अनुविन्द' साथ–साथ राज्य करते थे। यूनानी इतिहासकार सूचना देते हैं कि सिन्ध में स्थित पाटल राज्य में दो राजाओं का शासन था। उल्लेखनीय है कि प्राचीन स्पार्टा में भी द्वैराज्य शासन प्रणाली प्रचलित थी। कुछ इतिहासकार 'अन्धौ–अभिलेख' से ज्ञात चष्टन और रुद्रदामा के शासन को भी द्वैराज्य शासन का उदाहरण मानते हैं। उत्तर–वैदिक साहित्य में संघ राज्य के अस्तित्व का ज्ञान भी होता है। किसी समय कुछ पाचालों ने मिलकर संघराज्य स्थापित किया था। सिकन्दर के आक्रमण के समय मालवों एवं शुद्रकों ने भी एक संघ का निर्माण किया था। महाभारत में अन्धक–वृष्णि संघ का उल्लेख मिलता है।

अध्याय–3

प्राचीन भारतीय समाज : संरचना एवं सामाजिक मूल्य

प्राचीन भारत में सामाजिक संरचना के कई स्तर थे, जिसका आदिम बीज रूप ऋग्वेदीय 'सखा' के सामाजिक सम्बन्ध में निहित है। सोलहवीं शती में 'सोसाइटी' और इसका विशेषण 'सोशल', फ्रेंच–स्पेनी भाषा से अंग्रेजी भाषा में आया, वहाँ सोशल का अर्थ 'मिलनसार', 'सहयोगी' था एवं सोसाइटी का अर्थ 'एसोसिएशन'। इसके मूलरूप लैटिन 'सोखस' का अर्थ वैवाहिक, पारिवारिक सम्बन्ध तथा सम्बद्ध व्यक्तिगों का वर्ग था। ध्यानार्थ है कि 'सोखस' का सगोत्र ऋग्वेदीय 'सखा' है जो भारत के प्राचीनतम सामाजिक सम्बन्ध का प्रथम सूत्र कहा जा सकता है, यही अवेस्ता एवं पुरानी फारसी में 'हखा' है। ऋग्वेद एवं अवेस्ता में एक स्वैच्छिक वरणीय वर्ग के सदस्यों को 'सखा' कहते थे। ये सखा समलक्ष्म होते थे और एक चिन्ह (अंजि) धारण करते थे जो इनके एक संगठन से सम्बद्ध होने की व्यंजना करता था। 'सखाओं' का पारस्परिक सामाजिक उत्तरदायित्व रहता था यथा आपत्ति आने या युद्ध के अवसर पर सहायता करना इनका परम कर्तव्य था।

वरण (√ वृ वरणे) स्वेच्छया चयन सिद्धान्त पर आधारित 'सखा' किस प्रकार 'वर्ण' में परिवर्तित हुआ तथा भारतीय समाज के 'चातुर्वण्य' (ब्राह्मण, राजन्य, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) में विभाजन के पूर्व समाज किन–किन स्तरों से होकर आगे बढ़ा इस प्रकार प्रकाश अपेक्षित है।

समाज : अर्य/आर्य :

ऋग्वेदीय समाज का एक स्तर आर्य, दस्यु एवं दासों का था। प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक का अभिमत है कि 'आर्य' किसी प्रजाति का नाम नहीं बल्कि 'हलबोलक' 'सामर्थ्यसूचक' 'अर' से अर्य व्युत्पन्न है। यह शब्द संज्ञा एवं क्रिया दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। उत्पादन सामर्थ्य एवं इस सामर्थ्य से युक्त लोगों को 'अर्य' की संज्ञा दी गयी एवं 'अर्य' से सम्बद्ध समूह का नाम 'आर्य' हुआ। उल्लेखनीय है कि ऋग्वेदीय समाज में यह 'अर्य' शब्द सामान्यजन (जनता) के आदिवर्ग का परिचायक था जिसमें स्वामी, पुरोहित, प्रजापोषक, रक्षक एवं योद्धा की भूमिकायें सम्मिलित थे। यही वर्ग आगे चलकर ब्रह्म (पौरोहित्य) क्षत्र (योद्धा, रक्षक) एवं विश् में वर्गीकृत (सामान्यजन समूह) हो गया।

चर्षणि/कृष्टि :

ऋग्वेदीय आर्य विभिन्न जनों में विभक्त थे। इनके कुछ उल्लेखनीय जन थे– अनु, यदु, दुह्य, तुरवश एवं पुरु। 'जन' निर्माण के पूर्व की यायावरी (संचरणशीलता = चर्षणि) स्थिति में अंतरभूत सामाजिक संगठन की चर्चा 'कृष्टि' एवं 'चर्षणि' के आधार पर की जा सकती है, जिस पर विस्तृत विमर्श प्रो0 सच्चिदानन्द मिश्र के ग्रन्थ "ग्राम एवं ग्राम्य जीवन' में है। संक्षेप मे 'चर्षणि' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में यायावर, घुमक्कड़ प्रजा (सामान्यजन) के लिए हुआ है जब यायावर स्थिति की परिसमाप्ति, स्थायी निवास एवं कृषि का आरम्भ हुआ तो 'प्रजा' के लिए 'कृष्टि' का प्रयोग किया गया, ऐसा मत सच्चिदानन्द मिश्र का है। आर0एस0 शर्मा का मत है कि 'कृष्टि' 'प्रजाजन' का सूचक है इससे कृषि का बोध नहीं होता। यद्यपि 'कृष्टि' शब्द ऋग्वेद में अनेक अर्थों में प्रयुक्त है यथा सामान्यजन, शत्रुजन, शत्रु सम्बन्धिनी प्रजा एवं शत्रु सेना। इनकी स्थिति सामान्य लोगों जैसी थी। इन पर स्वामित्व की कामना ऋग्वेदीय विजेताओं (जैसे इन्द्र) के लिए की गयी है। इस सन्दर्भ में विश्वम्भर शरण पाठक का मत है 'कृष्' धातु से व्युत्पन्न कृष्टि का अर्थ है 'जुते हुए खेत' उत्ते श्तान्मधवन्नुच्च भूयस।

उत्सहस्राद्रिरिचे कृष्टिषु श्रवः। अर्थात् कृष्टियों (खेतों) में अन्न सौगुना इतना ही नहीं हजार गुना बढ़ा। 'कृष्टि' ऐसे खेतों की श्रृंखला थी जो निवास भूमि के समीप होती थी। निवास भूमि चारों ओर से खन्दक (वव्रि) से घिरा हुआ रहता था। इस खन्दक के पार चारागाह और खेत रहते थे। कृष्टि का अर्थ विकसित होकर 'खेत' से 'खेतिहर' हो गया। वव्रि (खन्दक) के आवरण में रहने वाले 'वर्ण' कहलाने लगे। अन्ततः 'दास' या कर्षक समूह के रूप में इनका परिवर्तन हुआ।

दास/दस्यु :

ऋग्वेद में आर्यों के शत्रु के रूप में 'दस्यु' एवं 'दासो' का विवरण है। एक मत के अनुसार सामाजिक स्तर पर 'आर्य' और दास का स्थान दस्युओं से ऊपर था। दास एवं दस्युओं से आर्यों के द्वन्द्व को कुछ बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया। पहले अनेक विद्वानों की मान्यता थी कि दास एवं दस्यु यहाँ पहले से रहने वाले आर्येत्तर लोग थे। इनमें रंगभेद (आर्य वर्ण एवं दास वर्ण) एवं सांस्कृतिक अन्तर था। धीरे–धीरे आर्यों ने इन पर विजय कर इनकी स्थिति यूनानी 'हैलट' वर्ग जैसी कर दी। पं0 क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय ने रोम की 'अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस ऑफ ओरियण्ट लिस्ट्स' के 19वें अधिवेान में इसका खण्डन किया। उनके अनुसार ये शब्द असुरों अथवा राक्षसों का निर्देश करते थे जो ऋतविरोधी, विकृतांग तथा दुष्ट प्रवृत्ति के माने गये थे। ऋग्वेद के प्रारम्भिक अंशों में 'असुर' , प्राणवान्, शक्तिमान् (अस्सु वै प्राणाः) के अर्थ में अनेकशः प्रयुक्त हैं तथा 'ऋतस्य गोपा' वरुण के लिए भी 'असुर' का प्रयोग किया गया है। इसलिए असुर वृत्ति वाले दास, दस्यु आर्यों से जीवन दृष्टि के अर्थ में एक दूसरे से भिन्न थे न की प्रजातीय दृष्टि से। दस्यु मूलतःआर्यों की प्राचीन शाखा का वह वर्ग था जो यज्ञ विमुख था। इनकी जीवन पद्धति वैदिन आर्यों

से भिन्न थी। यही कारण है कि वे ऋग्वेद में अक्रतुन (यज्ञ न करने वाले) अश्रद्धान, अमज्ञान कहे गये हैं। वे 'अनिंद्र' थे क्योंकि ऋग्वेदीय जनों के देवाधिदेव 'इन्द्र' को नहीं मानते थे। इनके लिए 'अव्रत' (व्रत का पालन न करने वाले), 'अन्यव्रत', अनास (चिपटी नाक वाले) 'मृधवाच' (अस्पष्ट, हकलाकर बोलने वाले या अनधुरभाषी) जैसे विशेषणों का प्रयोग इनके और आर्यों के सांस्कृतिक विभेद को सूचित करता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में इन्द्र द्वारा दस्युओं को मारकर आर्यों की रक्षा का उल्लेख है–

'हत्वी दस्यून प्रार्यवर्णमावत्' इन्द्र को 'दस्युह' अर्थात् दस्युओं की हत्या करने वाला भी कहा गया है।

ऋग्वेद में 'दासों' के प्रति आर्यों का वह शत्रुभाव नहीं दिखायी देता जो दस्युओं के प्रति मिलता है। यद्यपि इन्द्र को दासों के पुरों का नाश करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद में 30 हजार दासों को माया से मूर्छित करने का उल्लेख प्राप्त है तथा 'दास वर्ण' (कृष्ण वर्ण वालों को) को गुहा में ढकेलने या भगा देने की बात कही गयी है– यो दास वर्णमधरं गुहाकः। शत्रुता को द्योतित करने वाले इन तथ्यों के साथ ही इनके आपसी सहयोग की सूचना भी अनेक ऋचाओं से प्राप्त होती है। दाशराज्ञ युद्ध में आर्यों के जनों के साथ उनके पक्षधर दास जनों का सहयोग रहा प्रतीत होता है। दास का 'सेवक' या 'गुलाम' के अर्थ में केवल एक बार उल्लेख है। जिससे स्पष्ट है कि समाज में पुरुषदासों की संख्या अत्यल्प थी। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि ऋग्वैदीय दान की वस्तुओं में पुरुष दासों का उल्लेख क्वचित् ही हुआ है, जबकि दासियाँ दान की वस्तुओं में परिगणित थीं। इससे निश्कर्ष निकलता है कि धन सम्पन्न लोगों के बीच विलासिता के उपादन के रूप में घरेलू दासियों का अधिक प्रचलन था और आर्थिक उत्पाद के लिए दास–शक्ति के उपयोग का चलन नहीं था। कुछ दासों को समाज में उच्च स्थान भी प्राप्त था, इनमें थे बलबूथ। (जिन्होंने एक ब्राह्मण को 100 गौं दान में दी थी) तरुक्ष, कवशी ऐलूश, महीदास एवं दिवोदास। दासों के वैभव सम्पन्न होने का प्रमाण ऋग्वेद के दान स्तुतियों में है। दास, दस्युओं के अतिरिक्त आर्यों के शत्रु जनों में 'पणि' एवं कृष्णवर्णी लोगों के भी उल्लेख मिलते हैं।

ऋग्वेदीय विवरणों के आधार पर सम्प्रति इतिहासविद् यह मानते हैं कि दास एवं दस्यु भी आर्य थे, लेकिन अवैदिक थे। अविनाश चन्द्र दास के अनुसार स्थायी रूप से बसे, कृषि कर्म, यज्ञादि कर्म को करने वाले सुसंस्कृत लोग आर्य थे तथा दास, दस्यु असभ्य स्थिति में रहने वाले, लूटपाट करने वाले तथा धार्मिक कृत्यों को नहीं करने वाले थे, लेकिन यह कहना कि आर्यों से जातीय भिन्नता रखते थे, उचित नहीं।

आर्य/दास/दस्युओं की आपसी प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के फलस्वरूप जहाँ 'दास' नामधारी आर्यों का विनाश हुआ, वहीं दासों का आर्यों के साथ विलय भी हुआ। इनमें से विजित जन विश् (सामान्यजन) के हिस्सा बन गये।

ब्रह्म, क्षत्र एवं विश् :

अर्य–चर्षणि – कृष्टि वर्गों में विभाजित प्राचीनतम भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर गतिमान रही। सर्वप्रथम आर्यों का विभाजन अर्य और चर्षणी/कृष्टि

समूहों में हुआ– (आ याहि पूर्वी रंति चर्ष णीरां अर्यः) बाद में तीन वर्गों में ये विभक्त हुए : ब्रह्म, क्षत्र एवं विश्, अर्थ की स्तुतिकर्ता, उपदेशक पोरोहित्य की भूमिका का निर्वाहक 'ब्रह्म' हो गया, क्षत्र ने उसकी योद्धावृत्ति एवं प्रशासनिक कार्य को ले लिया, वहीं 'अर्य' के व्यावसायिक कार्य को विश् ने अपना लिया। इस त्रिवर्ग के अस्तित्व में आने के पूर्व के सभी कार्य 'अर्य' करते थे। उत्तर वैदिक काल में 'अर्य' वैश्य का पर्यायवाची बन गया। यही बाद में विभक्त होकर वर्ण व्यवस्था के आधार बने।

वर्ण व्यवस्था :

ऋग्वेदीय युग में वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था नहीं थी, ऋग्वेद के पुरुष सूक्त जैसी उत्तरकालीन ऋचा में चार वर्णों ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख केवल एक बार हुआ है, जो क्रमशः विराट्पुरुष के मुख, बाहु, जांघ एवं पैर से उत्पन्न हुए बताये गये हैं। इनका 'विराट् पुरुष' के विभिन्न अंगों से तुलनात्मक सम्बन्ध तथा जिस क्रम से इनका निवेश किया गया है, उसको आधार बनाकर तत्कालीन समाज में ब्राह्मण/राजन्य/क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों की क्रमानुसार स्थिति की प्रायः विवेचना की गयी है जो उत्तरकालीन विकासमान समाज में उनकी स्थिति का परिचायक है न कि आरम्भिक। एक 'पुरुष' से उद्भूत होने के कारण तत्वतः सभी वर्ण एक हैं, कर्म (दक्षता) से भिन्न–भिन्न। वर्णवृ धातु से बना है, जिसका अर्थ चुनना; वरण करना अथवा ढगना है, वर्ण का अर्थ सामाजिक वर्गों से था जो समाज को एक आदर्श व्यवस्था में विभाजित करते थे। ऋग्वेद में ऐसे अनेक उद्धरण हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रियों द्वारा अपनी इच्छानुसार कर्म चुनने की पुष्टि करते हैं। एक स्थल पर ब्राह्मण ऋषि का कथन है कि– "मैं कारु (मंत्र निर्माता या शिल्पी) हूँ, मेरे पिता भिषक (वैद्य) तथा मेरी माता उपल–प्रेक्षिणी (पत्थर की चक्की से अनाज पीसने वाली) हम सभी भिन्न–भिन्न कार्य करने वाले हैं, फिर भी हे सोम देव हम सभी आपकी सेवा करते हैं। यह उल्लेख इस तथ्य का परिचायक है कि तत्कालीन समाज में कर्म का महत्व था जन्म का नहीं। कर्म के अनुसार ही कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इत्यादि हो सकता था। ब्राह्मण ऋषि भृगु रथ निर्माण कला में निपुण थे किन्तु समाज में उनकी प्रतिष्ठा याज्ञिक कर्म, तपश्चर्या और वैदुष्य से थी। वर्ण समाज के सम्यक् विकास की ऐसी संस्था थी जिसकी भित्ती गुणकर्म पर आधारित थी, गीता में कृष्ण का यह कथन कि– चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणकर्म विभागश : इसी तथ्य की पुष्टि करता है अर्थात चारों वर्णों की सृष्टि मैंने गुण, कर्म के अनुसार की।

ब्राह्मण :

'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में सामान्यतया प्रतिभावान् या गुणवान के अर्थ में हुआ है। कुछ स्थलों पर ब्राह्मण शब्द 'पुरोहित' के अर्थ में प्रयुक्त है, लेकिन पौरोहित्य कर्म सदैव ब्राह्मणों के हाथ में नहीं था। यथा दास एवं क्षत्रिय भी इस कार्य का सम्पादन करते दिखायी देते हैं। यथा दियोदास दास वर्ग के थे और पुरोहित थे। ऋग्वेद के तीसरे एवं सातवें मण्डलों में ब्राह्मण वशिष्ट एवं क्षत्रिय विश्वामित्र पुरोहित के रूप में विवेचित हैं। ऋग्वेदीय समाज में एक विशिष्ट वर्ग के

रूप में ब्राह्मण की स्थिति को मान्य करने का स्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता, लेकिन उत्तरवैदिक काल में चारों वर्णों को वंशानुगत सामाजिक वर्णों के रूप में देखा गया और समाज में इनकी श्रेष्ठता का सोपान निर्धारित होने लगा। प्रारम्भ में सामाजिक श्रेष्ठता के निर्धारण में संघर्ष की स्थिति की गूँज सुनाई देती है। यथा ब्राह्मण तथा क्षत्रियों को वैश्यों से श्रेष्ठ माना गया। कहीं--कहीं क्षत्रियों को अधिक श्रेष्ठ कहा गया है। जैसे काठक संहिता में। वाजसनेयी संहिता में ब्राह्मण को राजा से श्रेष्ठ कहा गया है। कुछ विद्वानों ने इससे दोनों में संघर्ष माना, लेकिन 'गोविन्द चन्द्र पाण्डेय मानते हैं कि 'इनमें कभी गम्भीर संघर्ष नहीं रहा।' तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि 'ब्राह्मण' समाज में देव तुल्य था (एते वै देवाः प्रत्यक्ष यद्ब्राह्मणाः)। निश्चय ही उसने अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा, तपश्चर्या से समाज में अग्रणी और श्रेष्ठ स्थान बना लिया था। महाभारत में ब्राह्मणों को द्विपदों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उनकी सामाजिक श्रेष्ठता के विषय में यूनानी लेखकों ने भी लिखा है। एरिस्टोब्यूलस का सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् तक्षशिला के दो जटाजूट ब्राह्मणों से सम्पर्क हुआ था जिसका समाज में बड़ा सम्मान था। वे बिना मूल्य चुकाये बाजार से अपनी इच्छानुसार वस्तुएं ला सकते थे।

राजन्य/क्षत्रिय :

ऋग्वेद में 'क्षत्र' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त है। यथा सैन्य बल (ऋग्वेद 1. 54.8–1) या राज्य क्षेत्र।

ऋग्वेद में 'क्षत्र' एवं 'क्षत्रियों' का अर्थ क्रमशः 'राज्य क्षेत्र' एवं राक्ष्य क्षेत्र में निवास करने वालों से था, जिससे कालान्तर में इनकी स्वामी एवं रक्षक के रूप में प्रतिष्ठा स्थापित हुई। ऋग्वेद में शत्रुओं को अभिभूत करने वाले एवं विश्वधारक क्षत्र का उल्लेख है। यहाँ नायक एवं योद्धाओं के लिए क्षत्र, क्षत्रिय के अतिरिक्त 'राजन्' शब्द भी मिलता है। राजन के कई अर्थ इस सन्दर्भ में है। यथा– गमन करने वाला, मार्ग प्रदर्शक, सैन्य संचालक इत्यादि। उत्तर वैदिक समाज में क्षत्रिय वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण के ऊपरी ढाँचे में 'प्रभु वर्ग में आता था। शास्त्र के अनुसार वे 'अधिपति वर्ग' में समाहित थे। इस काल में क्षत्रियों की भूमिका केवल युद्ध कौशल प्रशासनिक कार्यों तक ही सीमित न थी, बल्कि वे ब्रह्मज्ञान आध्यात्मिक चिन्तन की ओर उन्मुख हुए, जिसका प्रमाण विदेह शासक जनक, अश्वपति कैकेय, अजात शत्रु हैं। ये विद्वान् राजा थे, जिन्होंने विद्या के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। औपनिषदिक काल एवं श्रमण परम्परा में 'क्षत्रियों' को विशेष प्रतिष्ठा मिली। जैनियों के 24 तीर्थंकरों में से सभी क्षत्रिय कुल के बताये गये हैं। यहाँ ब्रह्म–क्षत्र द्वन्द का बिम्ब दिखाई देता है। पूर्व मध्यकाल में यह प्रवृत्ति अपने चरम रूप में पहुँच गयी। इस काल में राजपूतों का उद्भव महत्वपूर्ण था (यहाँ भी आध्यात्मिक शक्ति ब्रह्म एवं राजकीय शक्ति क्षत्र के बीच का युद्ध वशिष्ठ के द्वारा आबू पर्वत पर सम्पादिक यज्ञ प्रतीक में देखा जा सकता है) अब यह सर्व सम्मति से मान्य है कि राजपूतों का उद्भव मिश्र तत्वों से हुआ। परमार एवं चाहमानों को 'ब्रह्म–क्षत्र' माना गया अर्थात् ऐसे क्षत्रिय जो पहले ब्राह्मण थे, बाद में क्षत्रिय। दसवीं शताब्दी में इन्ब

खुर्ददवा के अनुसार क्षत्रिय दो प्रकार के थे– साक्कुक्रीय तथा कतरीय अर्थात् सत्क्षत्रिय तथा क्षत्रिय/वैद्य के अनुसार प्रथम वर्ग शासक था तथा द्वितीय वर्ग के क्षत्रिय कृषि कार्य में युक्त थे।

विश/वैश्य :

ऋग्वेद में 'वैश्य' शब्द का व्यवहार मात्र एक बार हुआ है पुरुषसुक्त में जबकि 'सामान्यजन, समूह, सन्निवेश (निवास) के अर्थ में 'विश' शब्द का पुष्कल प्रयोग दिखायी देता है यथा मनुष्यों के दुरोण (गृह) में स्थापित विश्पति, प्रजाजनों के स्वामी के अर्थ में 'विश्पति' (ऋग्वेद– 7.39.2) इत्यादि का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार अनेक 'समूहों' को यह शब्द निर्दिष्ट करता है। जैसे– दैवीनां विशम। (दैवी शक्तियों का समूह) 'मानुषीणां विश्वम् (मनुष्यों का समूह), 'दासीर्विशः (दासों का समूह)। ऋग्वेद में विश से आशय संचरणशील जनजाति से प्रतीत होता है जो नये चारागाहों की खोज में निरन्तर भ्रमणशील थे। अन्ततोगत्वा विश् 'आर्यों के समुदाय' के रूप में स्वीकृत शब्द हो गया। वह समुदाय जो उत्पादन की प्रक्रिया का मूल था, जिसके परिश्रम पर जनजातीय सम्पत्ति का उत्पादन आधारित था। सामान्य जन का प्रतिनिधित्व करने वाले आर्यों के इस वर्ग में समाज के विभिन्न कार्यों (कृषि, वाणिज्य, उद्योग–शिल्प इत्यादि) में लगे हुए लोग समाहित थे। परवर्ती काल में 'वैश्य' वर्ग का समाज में स्थान ब्राह्मण, क्षत्रियों की अपेक्षा निम्न था, इन्हें 'अन्यस्य बलिकृत' अर्थात् दूसरों को कर देने वाला कहा गया है।

औपनिषदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्गों के घनिष्ठ सम्बन्ध की कामना की गयी है। विभिन्न कालों में अपनी व्यावसायिक वृत्ति एवं समृद्धि के कारण यह वर्ग समाज में प्रतिष्ठित था। छठीं शताब्दी ई0पू0 में 'श्रेष्ठियों' की भूमिका सर्वविदित है। श्रेणियों द्वारा धार्मिक संगठनों के दान के उदाहरण साँची, भरहुत आदि में दृष्टिगोचर होते हैं। सातवाहन काल में नासिक, जुन्नार एवं अभिलेख जुलाहों तथा तैलिक श्रेणी की उन्नत दशा के द्योतक हैं। गुप्तकाल में श्रेणियों का महत्व इतना बढ़ गया था कि वे अपने शिल्प से प्राप्त धन से 'प्रशस्ति' तक लिखवाने लगे थे। उदाहरण के लिए कुमारगुप्त एवं बन्धु वर्मा के काल का मन्दसौर (मध्यप्रदेश) अभिलेख पट्टवाय श्रेणी के द्वारा लिखवाई गयी थी।

शूद्र :

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चातुर्वण्य के अन्तर्गत 'शूद्र' का उल्लेख एक बार हुआ है। समाज में इसका चौथा स्थान था। इस वर्ग का प्रधान कार्य परिचारिका वृत्ति थी। यज्ञों में उनकी उपस्थिति वर्जित थी। उन्हें 'असत्य'भी माना गया। इसके साथ ही कतिपय सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि वे सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक अंग थे। उनके लिए भी प्रकाश की स्तुति की गयी है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि– "हमारे ब्राह्मणों में प्रकाश भरो, हमारे मुख्यों में प्रकाश भरो, वैश्यों एवं शूद्रों में प्रकाश भरो और अपने प्रकाश में मुझमें भी प्रकाश भरो–

राजनैतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था में भी उनकी भूमिका थी। पालागल, रथकार, तक्षन् (बढ़ई) तथा कर्मार (लोहार) 'रत्नियों' में होते थे जो राज्य के लोगों के प्रतिनिधि थे। ऐसे अनेक ऋषि थे जो शूद्र या शूद्रा पुत्र थे जैसे वत्स तथा कवष ऐलूष। वेद व्यास की माता मछुआरों की जनजाति की थीं. शूद्रों के वेदाध्ययन की तर्जना करते गौतम दिखायी देते हैं। इसके साथ ही इसका दूसरा पहलू भी है, जिसके अनुसार शूद्रों को वैदिक अनुष्ठान करने का अधिकार प्राप्त था।

उल्लेखनीय है कि 'इष्ट' (वैदिक श्रौत कर्मकाण्ड) के स्थान पर 'पूर्त' (कूप, तालाब, वापी, वाटिकाओं, मन्दिर इत्यादि का निर्माण) के सम्पादन का अधिकार शूद्रों को भी पूर्व मध्यकाल में प्राप्त था। (अधिकारी भवेच्छू द्रः पूर्तधर्म न वैदिक)। अपराधों के सन्दर्भ में व्यभिचार आदि में शूद्र पर अधिक दण्ड लगता था। परन्तु चोरी के मामले में ब्राह्मण की अपेक्षा कम दण्ड लगता था।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत चातुर्वर्ण्य का विकास देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार संवर्धित होता रहा है। इस व्यवस्था का उत्तर पक्ष आश्रम–व्यवस्था का उद्भव उत्तरवैदिक काल में किसी समय हो चुका था। यद्यपि आधुनिक विचारकों का मत है कि इसका प्रचलन बुद्ध के बाद हुआ। 'आश्रम' 'श्रम' पर आधारित था। 'श्रम' की प्रतिष्ठा वैदिक काल से थी, जो व्यक्ति सापेक्ष थी। आध्यात्मिक दायित्व की पूर्ति एवं व्यक्ति के चेतस् के विकास के लियें चार आश्रम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास सौ वर्ष (प्रत्येक के लिए 25 वर्ष) के आदर्श जीवन के आधार पर वर्गीकृत हुए। आश्रम व्यवस्था से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख उत्तर वैदिक अनेक ग्रन्थों में हुआ है। वृहदारण्यक उपनिषद से विदित होता है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा था कि अब मैं गृहस्थ जीवन का त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ। जाबालोपषिद में सर्वप्रथम चारो आश्रमों का उल्लेख है। श्वेताश्वतर ने ब्रह्मज्ञान की चर्चा आश्रम नियमों से ऊपर उठ जाने वाले लागों से की थी।

परिवार –

नृतत्त्वशास्त्री मानते हैं कि प्राक् वैदिक समाज मातृ सत्तात्मक था, जिसका बिम्ब ऋग्वेदीय ऋचाओं में अवशिष्ट है। जैसे उषा–इन्द्र के मध्य हुए युद्ध 'उर्वशी पुरुरवामिथ' (जिसमें इन्द्र ने विपाशा नदी के तट पर उषा के 'अनस' अर्थात् गाड़ी को तोड़ दिया, उषा भागने के लिए विवश हुई) के आधार पर अनेक विद्वान डी0डी0 कोसम्बी, आर0एस0 शर्मा, विश्वम्भरशरण पाठक आदि मातृसत्ता का पितृसत्ता में संक्रमण होने का प्रतीक मानते हैं। वैदिक वाङ्मय से ज्ञात होता है कि समाज पितृ सत्तात्मक था, गृह का मुखिया पिता होता था जो असीमित अधिकार से सम्पन्न था। अपनी सन्तान को बेचने, कठोर आदेश का पालन कराने, उत्तराधिकार को बदलने में वह स्वतन्त्र था। इसका प्रबल प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण का वह कथानक है, जिसमें ऋषि अजीगर्त अपने तीन पुत्रों में से अपने मझले पुत्र शुनःशेप को 100 गांवों के बदले बेंच दिया। विश्वामित्र ने औरस पुत्रों के रहते दत्तकपुत्र शुनः शेष को ज्येष्ठ

पुत्र का अधिकार प्रदान कर दिया। गृह पर पति एवं पत्नी दोनों का समानरूपेण अधिकार था। पति–पत्नी के लिए सम्मिलित विशेषण के रूप में 'दम्पती' शब्द का बहुशः प्रयोग इस तथ्य को सूचित करता है। 'दम' का अर्थ 'घर' होता है, द्विवचन में पती शब्द पति–पत्नी के सम्मिलित–स्वामित्व का बोधक है। परिवार में बधू की समुन्नत स्थिति की सूचना ऋग्वेद से ही प्राप्त होती है। मंत्र 10.85.46 में विवाह के पश्चात् वधू को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है कि तू श्वसुर गृह में सास, श्वसुर, ननद एवं देवर की शासिका (सम्राज्ञी = रानी) बनो। इस ऋचा से संयुक्त परिवार की सूचना मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर इन्द्र से स्त्री को दस पुत्रों की माँ बनने की प्रार्थना की गयी है। इस युग में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र की ही कामना की गयी है। बाल विवाह की सूचना वैदिक साहित्य से नहीं मिलती। पूर्ण यौवनावस्था में विवाह होने (घोषा) तथा कभी–कभी अपने पिता के गृह में कन्या के वृद्धावस्था प्राप्त करने का संकेत भी प्राप्त होता है। इसके साथ ही ऋग्वेद में 'समनों' (उत्सवों, समारोहों) का उल्लेख है, जहाँ कन्याएँ स्वयं अपना पति ढूँढ लेती थीं।

वैदिक नारी को समाज, परिवार में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। ऋक् एवं अथर्व संहिताओं में कम से कम सात ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिससे 'पारिवारिक सभा' विदथ में न केवल स्त्रियों की भौन उपस्थिति बल्कि वाद–विवाद में भाग लेने की चर्चा है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि योषा 'विदथ' नामक सभा में सम्मिलित हुई थी। सूर्या से विदथ में आगत लोगों के समक्ष बोलने को कहा गया है। विवाह समारोह में ऐसी कामना की गयी है कि वधू केवल गृहणी बनकर न रहे, बल्कि वह 'विदथ' में बोले। विदथ की तुलना आर0एस0 शर्मा ने 'आइरो क्वोई' (न्यूयार्क में रहने वाले पाँच आदिम जनजातियों का संघ) की सभा से की है जो सामान्यतः एक गोत्र के सभी महिला–पुरुष सदस्यों की जनतांत्रिक सभा थी। वैदिक अनेक महिलाएं ऋषिकायें हुईं, जिन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की। इनमें अपाला, लोपा मुद्रा, विश्ववारा आदि प्रमुख हैं। समाज में दो प्रकार की शिक्षित नारियों का उल्लेख मिलता है : ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी वे होती थीं जो जीवन पर्यन्त अध्ययन, अध्यापन के लिए अविवाहिता का जीवन व्यतीत करती थी और दूसरी कोटि में वे नारियाँ थीं जो अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् विवाह कर लेती थीं, सद्योवधू कही जाती थीं।

सती प्रथा का प्रचलन समाज में नहीं था। उत्तरवैदिक साहित्य से नारियों की हासोन्मुख स्थिति की सूचना मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्री को 'कृष्णं हि दुहिता पुत्र ह ज्योतिः' कहा गया है अर्थात् पुत्री दैन्य, दुख की कारण है तथा पुत्र प्रकाश है जो पिता को भवसागर से पार ले जाता है। मनु ने तो यहाँ तक कह दिया कि स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं होती, इसलिए कौमारावस्था में पिता, युवावस्था में पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में उसे रहना चाहिए। नारी की स्थिति में आयी

गिरावट के अनेक ऐतिहासिक कारण था, जिसमें अर्थव्यवस्था का परिवर्तन (पशुचारण से कृषि कर्म, अधिकाधिक भूमि का अधिग्रहण) विदेशी आक्रमण इत्यादि ने नारियों के उपनयन, वेदाध्ययन के अधिकार को बाधित किया।

भारतीय मूल्य व्यवस्था में चार पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की गणना की गयी है। 'श्रेय' अथवा 'साध्य' का सूचक मूल्य एक व्यापक शब्द है। मूल्य की सारी अवधारणायें मानव के स्वभाव बोध से उत्पन्न होती है और उसी सन्दर्भ में मूल्यवत्ता प्राप्त करते हैं। एक मत से मूल्य वह है जिसे पाने के लिए व्यक्ति और समाज चेष्टा करते हैं, जिसके लिए जीवित रहते हैं तथा बड़ा से बड़ा उत्सर्ग करने में नहीं हिचकते हैं। भारतीय चिन्तन में मनुष्य वाची पुरुष के चरम लक्ष्य (अर्थ = पुरुषार्थ) की प्राप्ति के साधन के रूप में धर्म, अर्थ, काम के महत्व को प्रतिष्ठित किया गया। पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ है 'पुरुषाणां अर्थः' अथवा पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः अर्थात् अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना ही पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ के सैद्धान्तिक कलेवर में समाहित भारतीय मूल्य व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता है भौतिक एवं पारमार्शिक मूल्यों के बीच समन्वय।

पुरुषार्थ चतुष्टय के मूल्यों का वर्गीकरण करने पर वे दो रूपों में सामने आते हैं : 1. साध्य मूल्य, 2. साधन मूल्य। इस वर्गीकरण में 'काम' एवं 'मोक्ष' साध्य मूल्यों की कोटि में आते हैं तो 'धर्म' एवं 'अर्थ' साधन। त्रिवर्ग, (धर्म, अर्थ, काम) की मूल्य त्रयी में प्रथम मूल्य 'धर्म' है जो 'धृ' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है– 'धारण करने वाला। धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्म धारयते प्रजाः। व्यापक स्तर पर जो ब्रह्माण्ड को धारण करता है वह धर्म है। ऋत् तथा जो छोटे–छोटे प्राणियों को धारण करता है वह है धर्म। धर्म कतिपय नियमों एवं विधि–निषेधों के रूप में सामने आता है जो मानव में कर्तव्य बोध जगाता है, करणीय अकरणीय का ज्ञान देता है। धर्म उसे कहा गया है जो मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करे। सत् असत् का भेद बताये। मनु ने धर्म के दस लक्षण बताये हैं– धृति क्षमा दमोऽस्तयें शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यम् क्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।

महाभारतकार ने 'अहिंसा' को परम धर्म घोषित किया (अहिंसा परमो धर्मः)। तो वैदिक वाङ्मय ने 'ऋत्' को ही सत्य एवं यज्ञ कहा गया, ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का संचालक यदि ऋत् है तो उसी की भौतिक अभिव्यक्ति 'धर्म' है जिसका उपादान सत्य, अहिंसा, अचौर्य, शुचिता, क्षमा, धैर्य इत्यादि को बताया गया।

गीता में कृष्ण ने 'स्वधर्म' के पालन पर विशेष बल दिया, जहाँ धर्म 'कर्तव्य' के अर्थ में प्रयुक्त है।

हिन्दू विचारकों ने धर्म को सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म एवं आपद्धर्म में विभाजित किया सामान्य धर्म व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का आधार था। इसमें जिन नैतिक गुणों का समावेश था, उसमें 'सत्य' सर्वोपरि था। विशिष्ट धर्म व्यक्ति के कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण करता था। आपत्तिकाल में विपरीत परिस्थिति के

अनुकूल धर्म को अपनाने की छूट शास्त्रकारों ने दी यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एक दूसरे के धर्म (कर्म) को क्रमशः अपना सकते थे। राजा भी आपत्ति काल में विभिन्न प्रकार के 'कर' ग्रहण कर सकता था।

प्रत्येक वर्ण के लिए सत्य, अहिंसा, दया अचौर्य आदि नैतिक गुणों को धारण करना आवश्यक माना गया है लेकिन महाभारत में कुछ विशेष परिस्थितियों का उल्लेख है, जिसमें अधर्म को धर्म मान लिया गया है। यथा असत्य भाषण अधर्म है, लेकिन गुरु–हित, प्राण–रक्षा, परिहास में बोला गया, झूठ अधर्म नहीं है। शान्ति पर्व में 'अहिंसा' का प्रशस्ति गान करते हुए उसे परम धर्म घोषित किया गया, लेकिन युद्ध में राजाओं तथा क्षत्रियों द्वारा की गयी हिंसा को 'धर्म' कहा गया है। हमारी मूल्य व्यवस्था व्यापक चिन्तन की परिणति थी, जिसमें जीवन के हर पहलू पर विचार करते हुए मनुष्य एवं समाज के उत्कर्ष हेतु व्यवस्था की गयी।

अर्थ :

पुरुषार्थ में दूसरा स्थान 'अर्थ' को है। अर्थ को परिभाषित करते हुए कौटिल्य ने मनुष्याणां वृत्ति अर्थः कहा है अर्थात् जो मनुष्य की आजीविका का साधन हो उसे 'अर्थ' कहते हैं। मनुष्य की समस्त भौतिक सुख–सुविधाओं का मूलाधार 'अर्थ' ही है। यही कारण है कि 'अर्थ' को प्रधान मानते हुए धर्म एवं काम का आधार इसे कौटिल्य ने कहा है– अर्थ एव प्रधानः इति कौटिल्यः। अर्थ मूलो हि धर्मकामादिति। रामायण, नीतिशतक इत्यादि में अर्थ की महिमा का गान करते हुए कहा गया है वही नर कुलीन, पण्डित, गुणवान वक्ता दर्शनीय है जो धन सम्पन्न (वित्त युक्त) है, क्योंकि सभी गुण सुवर्ण के अर्थात् धन के ही मुखापेक्षी होते हैं। महाभारत में भी अर्थ को उच्चतम् धर्म कहा गया है, लेकिन अर्थ के प्राधान्य की वकालत करने वाले शास्त्रकार धर्मानुकूल अर्थोपार्जन पर ही बल देते दिखायी देते हैं, मनु के अनुसार यदि 'अर्थ' और 'काम' धर्म विरुद्ध है तो उनको छोड़ देना चाहिए।

काम :

पुरुषार्थ में काम तृतीय स्थान पर प्रतिष्ठित है। त्रिवर्ग का यह अन्तिम सोपान है। काम, इच्छा, आकांक्षा, रति का सूचक है। इसके विषय में नासदीय सूक्त में कहा गया कि सृष्टि के आरम्भ में न सत् था न असत्, न व्योम था न प्रकाश, जो दिन और रात में अन्तर दिखाये। इसमें यह भी अनुमान है कि 'जल' वह मूल आधार था, जिसमें सृजन के बीज थे, जल से काम का सृजन हुआ, जिसे मनसो रेतः कहा गया है। पचेन्द्रियों (आखँ, कान, नाक त्वचा, जिह्वा) की अपने–अपने विषयों में प्रवृत्ति ही काम है 'काम्यते इति कामः' से इन्द्रियों के संसर्ग से उद्भूत सुख ही 'काम' है। भारतीय चिन्तकों ने 'काम' का लक्ष्य रतिसुख के साथ ही गृहस्थ जीवन की सार्थकता 'काम' के माध्यम से 'सन्तान उत्पन्न करना' मानी है। कामोप भोग के सन्दर्भ में कौटिल्य ने कहा है कि (धर्म, अर्थ, काम) त्रिवर्ग का समान भाव से

सेवन करना चाहिए, क्योंकि इनमें किसी एक के अतिशय सेवन से दो भी बाधा पहुंचती है। मनु का भी मत है कि धर्म, अर्थ, और काम तीनों परस्पर आबद्ध रहकर ही श्रेयस् के साधन बनते हैं। अर्थ और काम वैयक्तिक है, इसलिए उनका अनियंत्रित अमर्यादित उपभोग स्वार्थपरता का पोषक एवं सामाजिक अव्यवस्था का कारक बनता है।

मोक्ष :

मनुष्य के पुरुषार्थ की चरम परिणति मोक्ष है। जन्म एवं पुनर्जन्म के बन्धन से तथा इस संसार के आवागमन से मुक्ति ही मोक्ष है जो जीवन का परम लक्ष्य माना गया।–प्रवृत्तिमार्गी (ब्राह्मण परम्परा) एवं निवृत्तिमार्गी (श्रमण, जैन, बौद्ध, आजीवक इत्यादि) दोनों ही परम्पराओं में मोक्ष, निर्वाण को 'परम आनन्द' के रूप में देखा गया है जो भौतिक लौकिक आनन्द से अतुलनीय है। आत्मा परमात्मा का तादात्म्य ही परम सुख है, जिसकी प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं– कर्म, ज्ञान एवं भक्ति।

मोक्ष प्राप्ति के लिए तीन ऋणों देवऋण (वेदों का अध्ययन) ऋषिऋण (यज्ञों का अनुष्ठान) एवं पितृऋण (सन्तानोत्पत्ति, पुत्रोत्पति) से उऋण होना आवश्यक था। मनु के अनुसार उन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है।

अध्याय—4

भारतीय संस्कृति : अवधारणा एवं स्वरूप

भारत के राष्ट्रीय गौरव का सबसे महत्वपूर्ण एवं आलोकित पक्ष उसका सांस्कृतिक वैशिष्ट्य है। स्वयं 'भारतीयता' एवं 'राष्ट्रीयता' भी सांस्कृतिक सुगंधि के संवाहक हैं। इस लिए भारतीय संस्कृति की प्रस्तुति एवं स्तुति का परिक्षेत्र अत्यन्त व्यापक तथा वैश्विक है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में यह 'विश्ववरेण्य' तथा 'प्रथमा संस्कृति है। अपनी सांस्कृतिक विरासत के कारण भारत विश्व में गौरवास्पद रहा है। संस्कृति की विराटता ने इस भारत भूमि को नये अर्थ, अभिप्राय तथा नाम—रूप प्रदान किया है जिसका प्रमाण भारत की विशाल वाङ्मयी परम्परा शिल्प तथा लौकिक परम्पराएँ मानी जाती हैं। इस दृष्टि से संस्कृति के व्यापक वैचारिक विमर्श के साथ भारतीय संस्कृति की अवधारणा तथा स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत है।

'संस्कृति' : अर्थ एवं अभिप्राय

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा के 'सम' उपसर्ग पूर्ण 'कृ' धातु से निष्पन्न है जिसका तात्पर्य है— परिशुद्ध, परिष्त अथवा परिमार्जित। अपने मूलार्थ में 'संस्कृति' शब्द अत्यन्त व्यापक है। इसीलिए इसकी अनेक परिभाषाँए तथा व्याख्यायें की गई हैं। यह स्वीकार किया जाता है कि मानव अपनी विशिष्ट बौद्धिक क्षमता के कारण प्रकृति के साहचर्य में रहते हुए भावनात्मक एवं सृजनात्मक शक्ति के द्वारा प्राकृतिक अपादानों का जो परिष्कार करता है, वह संस्कृति के रूप में पहचानी जाती है। संस्कृतिजन्य परिशुद्धता मानव को दो स्तरों से अनुप्राणित करती है— वैचारिक परिशुद्धता तथा कायिक अथवा वाह्य आचार विचार सम्बन्धी परिशुद्धता। इसकी सहज अभिव्यक्ति वैयक्तिक और सामाजिक कृतज्ञता, कर्तव्य तथा सहभागिता के रूप में होती है। इस प्रकार संस्कृति का सामान्य अर्थ है — सुधारना, संस्कार करना, परिशुद्ध करना, सुन्दर बनाना अथवा यथा संभव पूर्णता प्रदान करना आदि।

सामान्य रूप से संस्कृति संस्कारित जीवन जीने की प्रक्रिया का नाम है। इसीलिए संस्कृतिकरण के अन्तर्गत ज्ञान, विज्ञान, विश्वास, रीति—रिवाज, नैतिक मूल्य तथा यम—नियम आदि बातें सम्मिलित होती है जिन्हें मानव समाज से सहजरूप से प्राप्त करता है।

संस्कृति के अन्तर्गत 'संस्कार' मुख्य क्रिया है। इसीलिए कुछ विद्वान संस्कार के परिणाम और भाव को ही संस्कृति कहते हैं। इस भाव के साथ वस्तुतः में बोध का प्रयोग है। वास्तव में पशुत्व से मनुष्यत्व के निर्माण की पूरी प्रक्रिया संस्कृति के अभिप्राय को व्यक्त करती है।

विचार, वाणी एवं क्रिया इन तीन तत्वों से संस्कृति का निर्माण होता है। इसीलिए संस्कृति के अन्तर्गत किसी देश अथवा समाज के श्रेष्ठ विचारों, जीवन पद्धतियों तथा जीवन– मुल्यों को परिगणित किया जाता है। इन श्रेष्ठ धरोहरों को सांस्कृतिक विरासत या देश की परम्परागत उपलब्धि भी कहा जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि सांस्कृतिक मूल्य देश एवं समाज के स्थायी धरोहर होते हैं।

सांस्कृति का निर्माण मानवीय सम्बन्धों तथा उसकी सामूहिक प्रक्रिया से होता है। इस प्रक्रिया से जिस संस्कृति का पल्लवन तथा विकास होता है, वह एक समूह से दूसरे समूह तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक एक शाश्वत नियम की भाँति पहुँचती हैं और मानव जीवन का अविभाज्य अंग बनकर भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही जीवन धाराओं को ओतप्रोत करती है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने जीवन के इन पक्षों का गहन चिन्तन मनन किया था तथा एक ऐसी 'संस्कृति' एवं सांस्कृतिक–परम्परा को जन्म दिया था, जो सम्पूर्ण मानव जगत् को निरन्तर सुख भांति के साथ जीवन यापन करने के साथ साथ आजतक प्रवहमान की हुई है। इस संदर्भ में 'पुरूषार्थ–साधना' संस्कृति की मूल प्रक्रिया है। इस साधना का बाहय पक्ष विज्ञान प्रविधि और शिल्प मे व्यक्त होता है तथा मनुष्य के कृत्रिम भौतिक पर्यावरण की रचना करता है जिसे सभ्यता कहा जाता है, दूसरी ओर अंतरग या आध्यात्मिक साधना अनुभूतिबेधी संकेतों द्वारा आध्यात्मिक अन्तर्जगत् की सृष्टि करता है जो वस्तुतः संस्कृति शब्द का अर्थ है। ये दोनों पक्ष एक नैतिक सूत्र से जुड़े रहते हैं। परमात्मा के अनुसार ये दोनों पक्ष धर्म और अर्थ में विभक्त और संयुक्त थे।

इस प्रकार उपयुक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि संस्कृति के मूलार्थ में स्वच्छता, शुद्धि या संस्कार है, जो व्यक्ति सही अर्थों में शुद्ध है, स्वच्छ एवं संस्कारित है, जिसका जीवन परिष्कृत है, जिसका आचार–व्यवहार शुद्ध है, वही सभ्य और सुसंस्कृत कहा जायेगा। इसलिए 'सम्यक् करणं संस्कृति' अर्थात प्रकृति की दी हुई वस्तु को सुन्दर उपयोगी श्रेष्ठ तथा संरक्षित करना उसकी संस्कृति है। जीवन का समुचित परिष्कार तथा उसमें श्रेष्ठ विचारों का समावेश संस्कृति को आलोकित करता है।

'संस्कृति' शब्द की निष्पत्ति अर्थ एंव अभिप्राय की दृष्टि से संस्कृत शब्द 'कृष्टि' सटीक एवं समानार्थी है। संस्कृति की भाँति कृष्टि कर्म (कृषि कर्म) का भी उद्देश्य भूमि के कर्षण तथा उसकी प्राकृतिक अवस्था को मानव के लिए उपयोगी बनाना अथवा उसे परिशुद्ध करना ही है। कृष्टि के माध्यम से भूमि की प्राकृतिक अवस्था में गुणात्मक सुधार किया जाता है तथा अशुद्धियाँ दूर की जाती हैं। भूमि के उर्वरा शक्ति में बाधक तत्वों को हटाकर उसे उपजाऊ बनाया जाता है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में कृषि कर्म, संस्कृति एवं सन्तानोत्पत्ति समय प्रक्रिया तथा उद्देश्य का संवहन करते हैं।

पश्चिमी जगत में भारतीय संस्कृति के लिए अंग्रेजी 'Culture' 'कल्चर शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बेकन ने किया, साथ ही जर्मनी

के 'हर्डर' ने इसे प्रचलित किया। ब्रिटेन में यह शब्द बागवानी (हार्टीकल्चर) तथा जर्मनी में कृषि (एग्रीकल्चर) से सम्बन्धित है। यद्यपि अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' भारतीय शब्द 'संस्कृति' के सम्पूर्ण भाव का संवहन नहीं करता है तथापि दोनों की क्रियात्मक भावात्मकता के कारण समान रूप से प्रचलित हो गये हैं। चूँकि भारतीय संस्कृति में शुचिता, शौच तथा शुद्धि का विशेष महत्व है, इसलिए इसे धार्मिकता से आबद्ध कर मानव जीवन के लिए परमोपयोगी माना गया। इस अर्थ में 'संस्कृति' एवं 'कल्चर' भिन्न अभिप्राय के द्योतक हैं। तथापि वैश्विक व्यवहार में दोनों समानार्थी रूप में प्रयोग में आते हैं।

संस्कृति की परिभाषाएँ

भारतीय शब्द 'संस्कृति' तथा अंग्रेजी 'कल्चर' को समानार्थी मानकर विविध विषयों में विद्वानों ने परिभाषाएँ दी हैं। इससे संस्कृति की व्यापकता सिद्ध होती है। सोरोकिन के अनुसार 'मानव की नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियाँ 'संस्कृति' हैं। मैकाइवर महोदय 'मानव मूल्यों को 'संस्कृति' नाम से पुकारना अधिक समीचीन मानते हैं। नृतत्वशास्त्री टायलर ने 'संस्कृति' की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'संस्कृति वह संकुल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, विधि, प्रथा तथा अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में उपार्जित करता है।' सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री मैलिनोब्सकी ने कहा है कि 'संस्कृति के अन्तर्गत वंशानुगत शिल्प तथ्यों, वस्तुओं, तकनीकी प्रक्रियाओं, धारणाओं, अभ्यासों तथा मूल्यों का समावेश हो जाता है।

'संस्कृति' की भारतीय मनीषा ने मौलिक परिभाषाएँ की हैं जिनका आधार वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में अनेकश: प्राप्त हैं। भारतीय चिन्तन में यह स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य प्रकृत्या संस्कृति निर्माता है और संस्कृति उसकी निजी उपलब्धि है। इसीलिए वायुपुराण में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी मानव जीवन की घटनाओं को संस्कृति के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इस परिभाषा के अन्तर्गत मानव जीवन के दैनिक आचार–विचार, रहन–सहन, क्रिया–कलापों की कार्यशैली संस्कृति कहलाती है। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार 'मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसको संस्कृति कहते हैं। गोविन्द चन्द्र पाण्डे 'पुरूषार्थ' साधना को संस्कृति की मूल प्रक्रिया मानते हैं। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार संस्कृति मानव जीवन में उसी तरह व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मनुष्य की विविध साधनाओं के सर्वोत्तम परिणति को संस्कृति माना है। इन्द्र विद्या वाचस्पति का मत है कि 'किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की संस्कृति कहते हैं। डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि 'जीवन के नाना विधि रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।

वस्तुतः प्रकृति का संस्कारित रूप ही संस्कृति है तथा असंस्कारित रूप 'विकृति' है। इस प्रकार मानव जीवन की सम्पूर्ण यात्रा में प्रकृति, संस्कृति एवं विकृति का संघर्ष चलता रहता है।

'संस्कृति' और 'सभ्यता' में अन्तर

प्रायः प्रयोग के स्तर पर संस्कृति एवं सभ्यता दोनों शब्दों का समानार्थी प्रयोग किया जाता है किन्तु तात्विक दृष्टि से तथा किसी देश अथवा जाति की संस्कृति और सभ्यता की जाँच करते समय दोनों के मौलिक अन्तर को भलीभाँति समझना आवश्यक है। दोनों ही शब्द राष्ट्रीय गौरव के आलोकित शब्द हैं। दोनों परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं जो विन्दुशः इस प्रकार है:—

1. संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता का मापन सरल है क्योंकि सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं एवं उनकी उपयोगिता से है किन्तु संस्कृति साध्य होने के कारण युग युगीन परिस्थितियों की उपज है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी मौलिक मूल्य व्यवस्था होती है।
2. सभ्यता साधन है जबकि संस्कृति साध्य है। साध्य को प्राप्त करने के साधनों को ही 'सभ्यता' कहा जा सकता है जबकि साध्य अर्थात् संस्कृति की प्राप्ति के लिए मनुष्य सदैव प्रयत्नशील रहता है।
3. संस्कृति का सम्बन्ध मानव के आन्तरिक गुणों से है, जबकि सभ्यता मानव के वाह्य जीवन से सम्बन्धित है जिसमें उसकी भौतिक उपलब्धियाँ आती हैं।
4. सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से होने के कारण भौतिक जगत् में होने वाले परिवर्तनों से सभ्यता में भी परिवर्तन स्वाभाविक है जबकि संस्कृति में परिवर्तन कठिन है क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य के विचारों, मनोभावों तथा आन्तरिक गुणों से है।
5. संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता का हस्तान्तरण सरल है।
6. संस्कृति के प्रति मानव का मानसिक एवं हार्दिक लगाव अधिक होता है, जबकि सभ्यता के प्रति अपेक्षाकृत कम ।
7. संस्कृति का प्रसार पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कारतः होता है जबकि सभ्यता में क्रमानुगत परिवर्तन अनेक दिशाओं में होता है।
8. सभ्यता सहज ज्ञेय है जबकि संस्कृति गढ़ एवं अनुभूतिगम्य हैं।
9. संस्कृति में चक्रीय परिवर्तन होता है जबकि सभ्यता में रैखिक।
10. सभ्यता संस्कृति का पर्यावरण है।
11. संस्कृति आत्मा है सभ्यता शरीर है।

भारतीय संस्कृति : अवधारणा

'संस्कृति अपने सभी लक्षणों के साथ भारतीय जीवन में विकसित हुई है। इसमें इस भूभाग के निवासियों तथा उनकी विचार—आचार पद्धति का विशिष्ट योगदान रहा है। इसीलिए भारतीय संस्कृति को विश्व में प्राचीनतम और श्रेष्ठतम

माना गया है। कतिपय विशिष्ट गुणों के कारण इसकी राष्ट्रीय तथा दैशिक पहचान भी स्थापित है। इस संस्कृति की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है।

स्वयं 'भारत' की अवधारणा केवल एक भौगोलिक इकाई के रूप में ही नहीं है बल्कि यह एक सांस्कृतिक अवधारणा का शब्द है। इसलिए भारतीय संस्कृति अनेक विशिष्टताओं का पुंजीभूत रूप है। इस संस्कृति की मौलिक अवधारणा में भरत, भारत और भारती तीनों का अनुपम संयोग है। भरत यहाँ के प्राचीन जन की संज्ञा थी, जिन्होंने यज्ञीय विचारों के कारण सामूहिक जीवन तथा समासिक संस्कृति का विकास किया। इसीलिए भरत जन की यज्ञीय परम्पराएँ तथा उनके चक्रवर्तित्व की वीरगाथाएँ इस भूभाग पर सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का सृजन करती हैं। भरत भूमि भारत पर जिस संस्कृति का अवतरण हुआ, उसे 'भारती' के रूप में पहचाना गया। इस प्रकार भारती से भारत की पहचान होती है। भारती सन्तति का यह देश पुरातन तथा प्रणम्य रहा है, इसीलिए भारतीय संस्कृति जन भूमि तथा वहाँ के निवासियों की चिन्तन पद्धति से पहचानी जाती है।

भारतीय संस्कृति प्रकाशमयी है। इसमें त्रा = आत्रा प्रकाश गति, ज्ञान मुख्य तत्व है जिनके आलोक से संस्कृति का निर्माण हुआ है; अन्धकार से प्रकाश की ओर गमन, मृत्यु से अमरत्व की यात्रा तथा असत से सत् की ओर गतिशीलता प्रधान तात्विक विचार है जिन्हें वैदिक ऋषियों ने 'तमसो मा ज्यातिर्गमय', 'मृत्यार्मा मृतं गमय' तथा 'असतो मा सद्गमय' के रूप में भारतीय संस्कृति के प्राणतत्व के रूप में उपदिष्ट किया था। इसीलिए भारतीय संस्कृति में श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए सौ वर्षों तक जीवन की कामना की स्तुति की गई है। यहाँ के तत्वद्रष्टा ऋषियों ने जीवन के विविध पक्षों को आलोकित करने वाले विचारों तथा जीवन मूल्यों को अपनी चिरकालिक तपः साधना से सृजित किया है। भारतीय संस्कृति मूलतः प्राणदायिनी है। इसकी धारणा सत्य एवं धर्म से होती है। प्रकृति की शाश्वत सत्ता को स्वीकार कर उसमें जीवन के लिए योगदायी पक्षों की संस्कारित प्रक्रिया से जीवन--मूल्यों का निर्माण भारतीय संस्कृति की मौलिक अवधारणा है। इसमें जीवन एवं जगत् के पारस्परिक समन्वय को आधार बनाकर जड़—चेतन सृष्टि के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए जीवन की विलक्षण कल्पना है। इसीलिए अनेक जातियों, उपजातियों, वर्णों, पंथों तथा मतों के बीच एक सामंजस्य तथा एकता विद्यमान है। भारतीय संस्कृति में ऊर्जा का शाश्वत प्रवाह तथा जीवन का उल्लास है। जीवन के दोनों ही पक्ष—भौतिक एवं आध्यात्मिक इस संस्कृति में समान रूप से प्रकाशित हैं। यही कारण था कि अनेक मध्येशियाई जातियाँ—यवन, शक, कुषाण, हूण आदि यहाँ के सांस्कृतिक जीवन के साथ एकात्म हो गई, घुलमिल गईं।

भारतीय संस्कृति में एकभूमि, एक राष्ट्र, एक जन इस महान सत्य का प्रगटीकरण है। भूमि की एकता अनमोल वरदान है। भारतीय मनीषियों ने पृथ्वी की अध्यात्मिक शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर उसके चैतन्य रूप को राष्ट्रीय जीवन की एकता का आधार बनाया जो विश्व के किसी भी अन्य संस्कृति में नहीं मिलता है।

भारतीय संस्कृति में भूमि के माता रूप की विराट् संकल्पना है। इस जननीभाव के कारण ही भारतीय संस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों से पृथक है।

यद्यपि भारतीय संस्कृति की अनेक अवधारणाओं का चिन्तन हुआ है किन्तु सभी के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह सनातन एवं तत्ववादी है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के चिन्तक विद्वान दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी (द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ एंशिएट इंडिया) में लिखा है कि 'भारतीय संस्कृति की मूलभूत अवधारणा शाश्वत की अवधारणा है जिसके द्वारा मनुष्य का यह लक्ष्य है कि वह अपने अंतस्तम सत्य को अनुभूत करे जो मनस् से ऊपर शुद्ध चेतना है। यह अवधारणा समस्त भारतीय समाज, दर्शन, कला तथा साहित्य में प्रतिबिम्बित है।'

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

भारतीय संस्कृति का स्वरूप व्यापक एवं मानवतावादी है इसीलिए 'सर्व भवन्तु सुखिनः' का आदर्श लेकर संस्कृति के स्वरूप का चिन्तन हुआ है। अनेक उदात्त मानवीय गुणों के कारण ही भारतीय संस्कृति महान् और सार्वदेशिक कही जाती है। इस सस्कृति के स्वरूप को निम्न शीर्षकों के माध्यम से समझा जा सकता है:-

(1) मानवतावादी प्राचीनतम संस्कृति :

भारतीय संस्कृति का स्वरूप मूलतः मानवतावादी है, इसीलिए इस दृष्टि से इसे विश्व की प्राचीनतम संस्कृति होने का गौरव प्राप्त है। इस मानवतावादी विचार के ही कारण हिन्दू धर्म को 'मानवधर्म' कहा जाता है जो व्यापक तथा समस्त मानवमात्र के लिए कल्याणकारी है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में मनुष्य की विशेष प्रतिष्ठा है। नर से नारायण पुरूष से पुरूषोत्तम बनने की प्रक्रिया केवल भारतीय संस्कृति में निहित है। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की कथा में नारद के साथ संवाद में जिस 'परमपुरूष' की जिज्ञासा व्यक्त की है वास्तव में वही कथा का हेतु है। यह संस्कृति जितनी मानवतावादी है इसका नवीन उदाहरण स्वामी विवेकानन्द के उस कथन से प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वामी जी ने कहा था कि 'मैं उस प्रभु का सेवक हूँ जिसे अज्ञानी लोग 'मनुष्य' कहते हैं ।

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की प्राचीनता भी है। अभी हाल में संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्था 'संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक एंव सांस्कृतिक संगठन' (यूनेस्को) ने मध्य प्रदेश में स्थित मानव के प्राचीनतम शैलाश्रय समूह 'भीमबेटका' तथा ऋग्वेद की ऋचाओं को विश्व धरोहरों की सूची में परिगणित कर यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। यहां की संस्कृति की विशेषता रही है- इसकी सांस्कृतिक निरन्तरता। इसलिए प्राचीनता, निरन्तरता सहगामी हैं। पुरातात्विक सर्वेक्षणों, उत्खननों से ज्ञात भारत की पाषाणयुगीन संस्कृतियाँ, सरस्वती, सिन्धु गंगा, सरयू आदि की नदी घाटियों की सभ्यताएँ तथा संस्कृतियाँ इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करती हैं।

(2) संस्कृति का धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप :

भारतीय संस्कृति का धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप विश्व में प्रसिद्ध है। इसमें

जीवन का मूल दृष्टिकोण धार्मिक तथा दार्शनिक स्वीकार किया गया है। भारतीय मनीषियों ने जिस 'धर्म' शब्द को अपनाया है वह विराट है, धारणीय है, मानवीय गुणों से युक्त है। धर्म को दो भागों में व्याख्यायित किया गया है- सैद्धान्तिक और कर्मकाण्डीय। इसका सैद्धान्तिक रूप आध्यात्मिक है जिसमें सम्पूर्ण जड़-चेतन के साथ पवित्र भाव हैं जबकि कर्मकाण्डीय स्वरूप के कारण ही सांस्कृतिक मूल्य, उपासना- पद्धति, देव प्रतिमा- देवालय आदि का विकास होता है। भारतीय संस्कृति की विलक्षता उपासना पद्धति में है। इसीलिए धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता की कसौटी पर यह संस्कृति विश्व में महान है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन ने ही मानवीय चेतना का चरम विकास किया है।

भारतीय संस्कृति की धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता उसका प्राण है। दोनों ही स्वरूप पुरूषार्थ चिन्तन (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) में सम्मिलित हैं। धर्म ही सभी पुरूषार्थों का आधार है। सर्वस्व उत्सर्ग की भावना इसका मोक्षदायी आध्यात्मिक पक्ष है।

(3) सहिष्णुतावादी सार्वभौमिक संस्कृतिः-

भारतीय संस्कृति की मूल पहचान इसकी सहिष्णुतावादी स्वरूप के कारण है। विश्व की किसी भी संस्कृति में भारतीय संस्कृति की तरह सहिष्णुता अर्थात सहनशीलता तथा लचीलापन नहीं है। वैदिक मंत्रों में 'एक सत्' को स्वीकार करते हुए नाना रूपों में उसके विस्तार को स्वीकार किया गया है। वैदिक मंत्र 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रमाण है। वेद, उपनिषद, महाकाव्य (रामायण एवं महाभारत), पुराण, विशाल संस्कृत, पालि एवं प्राकृत साहित्य इस स्वरूप को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध धर्म में 'चार आर्य सत्य' तथा जैनधर्म में 'स्याद्वाद' इसी सहिष्णुता के स्वरूप हैं।

भारतीय संस्कृति में सार्वभौमिक कल्याण का आदर्श सामने रखा गया है। इसमें अपनी उन्नति के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव समुदाय की उन्नति में पूर्ण आस्था की बात की गई है। विश्वबन्धुत्व एंव विश्वशांति की पवित्र भावना के साथ-साथ ऋषियों ने मानवमात्र में मैत्री, आपसी सहयोग तथा सौहार्द की उदात्त भावना-वृद्धि के लिए प्रार्थना की है।

भारतीय संस्कृति की सार्वभौमिकता का मूल मंत्र 'वसुधैव कुटुम्बकम' है। इसीलिए वैश्विक सुख तथा कल्याण का भाव सर्वत्र दिखाई देता है। सार्वभौमिकता की यह भावना साहित्य के अतिरिक्त, कला, संगीत आदि सभी में प्रदर्शित है। भारतीय संस्कृति का यह स्वरूप विश्व में वंदनीय है।

(4) सत्य, उदार एवं लोककल्याणकारी संस्कृतिः-

भारतीय संस्कृति सत्य, उदारता तथा लोककल्याण के चिन्तन पर निर्मित हुई है। भारतीय संस्कृति का आदर्श वाक्य 'सत्यमेव जयते' भारत के चिन्ह अशोकीय स्तम्भ के सिंहशीर्ष के नीचे उद्धृत है। सत्य का अनुसन्धान कर ऋषियों ने इसके

आधार पर संस्कृति का व्यावहारिक स्वरूप निर्मित किया है। मनुस्मृति में तो यहाँ तक लिखा है कि 'न हि सत्यात् परोधर्मः' अर्थात सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है। सत्य ही भारतीय संस्कृति का आलोक है।

(5) समन्वयवादी एवं ऐक्य संस्कृति :

भारतीय संस्कृति का स्वरूप समन्वयवादी तथा एकता की भावना वाला रहा है। जीवन के विविध पक्षों में समन्वय के साथ–साथ इहलोक एवं परलोक की पवित्र अवधारणा में समन्वित कर्म की भावना इसका मौलिक पक्ष रहा है। भारत में सांस्कृतिक समन्वय का दीर्घकालीन इतिहास रहा है। महात्मा बुद्ध ने माध्यमपतिपदा (मध्यम मार्ग) तथा श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के समन्वय को उस महान् सांस्कृतिक आदर्श के स्वरूप की व्यावहारिक अभिव्यक्ति के रूप में जानना चाहिए।

भारतीय संस्कृति का एक विलक्षण स्वरूप ऐक्यवादी है। डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'भारत की मौलिक एकता' में भारतीय संस्कृति में प्राप्त मौलिक एकता के स्वरूपों का सांगोपांग वर्णन किया है। 'अनेकता में एकता का सूत्र संस्कृति के आदर्श रूप की चरम अभिव्यक्ति है। भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक आदि विविध स्तरों पर एकता का दर्शन होता है। इसीलिए विष्णुपुराण में देश की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता का गीत प्रस्तुत है।

राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है जहाँ एकता के अमूल्य सूत्र न हों। व्यक्ति, समाज, परिवार तथा राष्ट्र यहाँ तक की सम्पूर्ण विश्व की एकता के सूत्र भारतीय संस्कृति में विद्यमान हैं। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' तथा 'यत्र बिश्वं भवत्सयंकणीउम्' (यजुर्वेद) के मंत्र भारतीय संस्कृति की वैश्विक तथा लौकिक एकता के सिद्ध मंत्र हैं।

(6) देव संस्कृति :

भारतीय संस्कृति वस्तुतः अपनी अवधारणा तथा स्वरूप में देव संस्कृति की है। देवपरायणता इसका विशेष गुण है। इस संस्कृति की मूल सत्ता देवसत्ता है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म देवचरणों में समर्पित होते हैं। मानव तथा प्रत्येक जीव उसी देव के अंश के रूप में पूज्य हैं। इसीलिए देवता को ही लक्ष्य मानकर सभी कर्म सम्पादित होते है। इसीलिए गीता में 'कर्म, भोजन, हवन, दान, तप सब कुछ ईश्वर को अर्पित करने का विधान है। देव और मनुष्य को परस्पर भावभावित होकर कल्याण प्राप्त करने का उपदेश इस संस्कृति में है।

इस संस्कृति की यह विशेषता रही है कि यह महापुरूषों को जन्म देती है जो अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण देव तुल्य समझे जाते रहे हैं। ऋषियों, मुनियों, संतों, भिक्षुओं, राजाओं तथा अनेक श्रेष्ठ महापुरूषों लक्षणों के युक्त पुरूषों, नारियों ने देवतत्व का सानिध्य प्राप्त किया। स्वयं मौर्य सम्राट अशोक की उपाधि 'देवानां प्रिय मिलती है। कनिष्क को 'देवपुत्र' तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय को तो 'विक्रमादित्य कहा

गया। ऋषियों तथा जैन,बौद्ध भिक्षुओं का समाज में देव सम्मान है। स्वयं भारत भूमि को 'देवभूमि' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार सर्वत्र देव आभा, देवोपमा तथा देवादर्श ही सांस्कृतिक जीवन का आदर्श माना गया है। इसलिए भारतीय संस्कृति के स्वरूप के निर्धारण में इन विशिष्टताओं, विशिष्ट स्वरूपों का सदैव सम्मान रहा है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति जीवंत, प्राणदायिनी, मोक्षदायिनी तथा वैश्विक है।

अध्याय—5

प्राचीन भारत के प्रमुख ग्रन्थ एवं साहित्य

(रामायण, महाभारत, उपनिषद एवं
अर्थशास्त्र (कौटिल्य) का परिचयात्मक अध्ययन)

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की अत्यन्त प्राचीन एवं सुदीर्घ परम्परा रही है। इसके परिचायक परिज्ञान से प्रेरणा ग्रहण कर मनुष्य अपने जीवन को सफल एवं सुव्यवस्थित बना सकता है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की सम्पूर्ण विरासत को वैदिक एवं लौकिक इन दो भागों में विभक्त संस्कृत–साहित्य के माध्यम से जाना जा सकता है। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी के रूप में उपनिषद् साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। संहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ, उनके बाद आरण्यक और अन्त में उपनिषदों का क्रम आता है। विवेकात्मक ज्ञान–मार्ग पर चलकर शाश्वत आनन्द के पास पहुँचाने का कार्य उपनिषदें करती हैं। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी होने के कारण उनके सामान्य परिचय के माध्यम से वेद का सार–तत्त्व जाना जा सकता है। रामायण और महाभारत–दोनों ही भारतीय साहित्य के उपजीव्य आर्य ग्रन्थ हैं। भारत के प्राचीन राष्ट्रनायक राम और कृष्ण के जीवन से ये दोनों ग्रन्थ सम्बद्ध हैं। राम के जीवन का आद्यन्त वर्णन रामायण में है तथा श्रीकृष्ण का पाण्डवों के सहयोगी और मार्ग–दर्शक का रूप महाभारत में दिखायी देता है। भारत की प्राचीनतम् उदात्त सभ्यता–संस्कृति, राष्ट्रीय जीवन और भावनाओं के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक जागरूक आदर्शों के सर्वांगीण चित्रण के कारण रामायण महाकाव्य का जीवन में शाश्वत महत्व है। घर–परिवार के सम्बन्धों की उदात्त चेतना उसके महत्व को और भी बढ़ा देती है। यह आर्य–सभ्यता की उत्कृष्टता एवं सर्वांगीण सफलता का जीवन्त प्रतीक है। इसी प्रकार जीवन के इच्छा, ईर्ष्या, प्रेम, राग, विराग आदि विविध मनोभावों रण–विद्या, शान्ति–विद्या, राजनीति–विद्या, धर्म, समाज आदि से सम्बद्ध सभी विद्याओं का कोश होने के कारण महाभारत का भी महत्व स्वत: ही प्रमाणित हो जाता है। रामायण में यदि महाकाव्यत्व प्रमुख है, तो महाभारत में इतिवृत्त की प्रधानता है। ये दोनों ही ग्रन्थ अपने व्यापक परिवेश एवं आकार में भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म, राजनीति, व्यवहार–नीति, समाज–दर्शन, जीवन–दर्शन, रीति–नीतियों, आदर्शों, व्यवहारों और विकसनशील चेतनाओं के व्यापक आयामों को सहज भाव से अपने व्यापक अन्तराल में समेटे हुए है। इनके सामान्य परिचायक ज्ञान से प्राचीन भारत को समझा जा सकता है।

आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र द्वितीय पुरुषार्थ–अर्थ का विवेचन करने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें अर्थ के साथ ही राजनीति को भी इसका

सारभूत अंग मानकर विवेचित किया गया है। यह राज्य, व्यापार, भूमि, योजना, नियोजन, नियंत्रण, नियम आदि विभिन्न विषयों एवं व्यावहारिक तथ्यों और समस्याओं को सुलझाने वाला अप्रतिम ग्रन्थ है। सिद्धान्त एवं क्रिया का सुन्दर सामन्जस्य होने के कारण यह ग्रन्थ युग–युगान्तरों तक राजनीति एवं व्यावहारिक अर्थ–व्यवस्था का आलोक–स्तम्भ बना रहेगा। शिक्षा के उच्च स्तर में प्रवेश करने वाले विद्यार्थी को इसके परिचय से पर्याप्त मार्ग–दर्शन मिल सकेगा।

इस प्रकार भारतीय विरासत को समझने के लिए उक्त चारों ग्रन्थों के परिचय को आवश्यक मानकर प्रस्तुत संकलन में सन्निविष्ट किया गया है। इसमें यथाशक्ति एवं यथामति यह प्रयास किया गया है कि विद्यार्थी कम से कम शब्दों में इन ग्रन्थों का परिचय प्राप्त कर अपेक्षित लाभ उठा सके।

(क) उपनिषद :

वेद विश्वसाहित्य के सबसे प्राचीन धरोहर हैं। इनमें मन्त्रों का संकलन है, जिसे संहिता करते हैं। चूंकि वेद चार हैं, इसलिए इनकी संहिताएँ भी चार हैं। वेद शब्द का अर्थ है– 'ज्ञान'। यह ज्ञान मन्त्रों में समाविष्ट है।

प्रत्येक वेद के चार भाग हैं– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। उपनिषद् शब्द उप+नि+सद्+क्विप् से बना है, जिसका अर्थ है 'वह ज्ञान जो गुरु के चरणों के समीप बैठकर प्राप्त किया जाता है।' वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषद् ग्रन्थों को वेदान्त भी कहते हैं।

उपनिषदों की संख्या के विषय में मतभेद है। इनकी संख्या 108 से लेकर 200 तक मानी जाती है। प्रमुख उपनिषद् 12 हैं– 1. ईशावास्य, 2. केन, 3. कठ, 4. प्रश्न, 5. मुण्डक, 6. माण्डूक्य, 7. तैत्तिरीय, 8. ऐतरेय, 9. छान्दोग्य, 10. बृहदारण्यक, 11. कौषीतकि और 12. श्वेताश्वतर। इनमें अन्तिम दो को छोड़कर सभी पर शङ्कराचार्य ने भाष्य लिख है।

1. ईश्वास्योपनिषद्– शुक्ल अजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के अन्तिम चालीसवें अध्याय का नाम ईशावास्योपनिषद् है। इसका नामकरण प्रारम्भ में आये (ईशादास्यम्) के आधार पर हुआ है। इसमें ब्रह्मविद्या पर प्रभावशाली ढंग से प्रकाश डाला गया है।

2. केनोपनिषद्– इसका सम्बन्ध सामवेद की जैमिनीय शाखा से है। इसका प्रारम्भ 'केन' शब्द से होता है, जिसके आधार पर इसका नामकरण केनोपनिषद् हुआ है। इसके अनुसार ब्रह्मज्ञान से ही सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर जीव मोक्ष को प्राप्त होता है।

3. कठोपनिषद्– इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से है। इसमें दो अध्याय और छह वल्लियाँ हैं। इसमें यमराज के द्वारा नचिकेता के लिए उपदिष्ट ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है।

4. प्रश्नोपनिषद्– इसका सम्बन्ध अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा से है। इसमें पिप्पलाद नामक ऋषि द्वारा ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इसमें गद्य की प्रधानता है।

5. मुण्डकोपनिषद्– इसका सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनक शाखा से है। इसका विभाजन मुण्डकों में हुआ है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और ब्रह्मतत्व पर विचार किया गया है।

6. माण्डूक्योपनिषद्– इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इस उपनिषद् में बताया गया है कि यह सारा संसार, वर्तमान, भूत और भविष्यत् सब 'ऊँ' ही है।

7. तैत्तिरीयोपनिषद्– इसका सम्बन्ध कृष्ण यर्जुवेद की तैत्तिरीय संहिता से है। यह शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगवल्ली– इन तीन वल्लियों में विभाजित है।

8. ऐतरेयोपनिषद्– इसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इसमें तीन अध्याय हैं, जिसमें क्रमशः सृष्टि, जीव और ब्रह्म का विवेचन है।

9. छान्दोग्योपनिषद्– इसका सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा से है। इसमें आठ अध्याय हैं। यह ग्रन्थ उपनिषद् ग्रन्थों में आकार की दृष्टि से बड़ा है।

10. बृहदारण्यकोपनिषद्– इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। इसमें कुछ छः अध्याय हैं। आकार की दृष्टि से यह उपनिषदों में सबसे बड़ा है। इसमें सृष्टि और ब्रह्म पर विचार किया गया है।

11. कौषीतकि उपनिषद्– इसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इसे सबसे प्राचीन उपनिषद् माना जाता है। इसमें चार अध्याय हैं। इसके उपदेष्टा कुषीतक नामक ऋषि हैं।

12. श्वेताश्वतरोपनिषद्– इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है। इसमें कुल छः अध्याय हैं। इसमें अत्यन्त मनोरम तथा कवित्वपूर्ण भाषा में ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है।

उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इनकी रचना किसी एक काल में नहीं हुई थी। लोकमान्य तिलक उपनिषद्–ग्रन्थों का रचना काल ई0पू0 16वीं शताब्दी के पूर्व मानते हैं।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य– उपनिषद् ब्रह्मविद्या का नाम हैं। इसे अध्यात्मविद्या भी कहते हैं। उपनिषद् विद्या का प्रमुख प्रतिपाद्य है–

प्रकृति–पुरुष और परमात्मा का विवेक। प्रकृति को माया भी कहते हैं। आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन बताया गया है। वह जन्म–मृत्यु से रहित है। ब्रह्म सारी सृष्टि के मूल में है। जीव उसी के अंश हैं और वे ब्रह्म से उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे प्रज्वलित अग्नि से चिनगारी। देहधारी जीव अविद्या के प्रभाव से अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपने को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी तथा जन्म–मरण वाला मान लेता है। उपनिषदों में वर्णित तत्वज्ञान से अविद्या का अन्धकार दूर हो जाता है और जीव सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर ब्रह्म की भाँति सत्, चित्, आनन्द स्वरूप वाला हो जाता है। उपनिषदों में नीतिविषयक और व्यवहार विषयक ज्ञान भी प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य अपने आचार और कर्तव्य में अत्यधिक शुचिता ला सकता है।

(ख) रामायण

संस्कृत काव्यों की परम्परा में रामायण को आदिकाव्य माना गया है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय की रचना रामायण से पहले ही हो चुकी थी, तथापि लौकिक संस्कृत में रची गयी प्रथम कृति होने के कारण यह आदि काव्य है। इसके प्रणेता महर्षि बाल्मीकि हैं। वे आदि कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनके विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। विष्णु पुराण के अनुसार वे भृगुवंशी ऋषि थे तथा वैवस्वत मनवन्तर में होने वाले चौबीसवें व्यास थे। बाल्मीकीय रामायण के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद दिखाई देता है। इसके भीतरी तथा बाहरी प्रमाणों के आधार पर उन्होंने इसका कालनिर्धारण करने का प्रयास किया है। यह काल 1100 ईसा पूर्व से लेकर 300 ईसा पूर्व तक आता है। अधिकांश विद्वान् इसे 500 ईसा पूर्व के आसपास रचित मानते हैं।

वाल्मीकीय रामायण का महत्व केवल काव्य की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु वह विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में एक उपास्य धार्मिक ग्रन्थ के रूप में भी समादृत है। इसीलिए इसकी अनेक टीकाएं भी रची गयी हैं। डॉ0 आफ्रेष्ट ने अपनी संस्कृत पाण्डुलिपियों की सूची में तीस प्राचीन टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें रामानुजीय, सर्वार्थसार, रामायण–दीपिका, रामायण–भूषण,वाल्मीकि–हृदय, रामायण–तिलक इत्यादि प्रमुख हैं।

महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं ही अपनी इस रचना को 'चतुर्विंशतिस्तहस्री संहिता कहा है। अतः इसमें चौबीस हजार श्लोक होना प्रमाणित है। उनके द्वारा ही इसे सात काण्डों तथा पाँच सौ सर्गों में निबद्ध बताया गया है। इसके सात काण्ड हैं– बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड। इन काण्डों में रामकथा का सुन्दर निरुपण किया गया है। बालकाण्ड में राम के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा का वर्णन किया गया है। अयोध्या काण्ड में उनके वनवास का निरुपण किया गया है। अरण्यकाण्ड में दण्डकारण्य में राम, लक्ष्मण और सीता के निवास से लेकर शूर्पणखा–प्रसंग, खरदूषण आदि का वध, सीता का अपहरण तथा राम के विलाप तक की घटनाओं का चित्रण है। किष्किन्धाकाण्ड में राम–सुग्रीव का मिलन, बालि–वध तथा हनुमान् आदि का सीता की खोज में जाना वर्णित है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान का लंका में पहुँचना, सीता से उनकी भेंट तथा लंका–दहन की कथा वर्णित है। युद्धकाण्ड में राम और रावण की सेनाओं के बीच हुए युद्ध का सजीव वर्णन किया गया है। इसी काण्ड में रावण का वध भी चित्रित है। अन्त में उत्तरकाण्ड में राम राज्य का वर्णन करते हुए अनेक आख्यानों का संग्रह किया गया है। इनमें ययाति, नहुष, वृत्रासुर–वध, अगस्त्य तथा बुध और इला की कथाएं दी गयी हैं। इसके अतिरिक्त बालकाण्ड में भी ऋष्यश्रृंग, वसिष्ठ, विश्वामित्र, मेनका, रम्भा, वामनावतार, गंगावतार तथा समुद्रमन्थन के आख्यान उपलब्ध होते हैं।

रामायण का प्रधान रस करुण है। इसकी रचना ही करुणा की वृत्ति से हुई है। मनुष्य, अपने जीवन के घात–प्रतिघात, नियति की चोटों और दूसरों के द्वारा किये जाने वाले उत्पीड़न से किस प्रकार जूझता और अन्त में अपने संघर्ष के द्वारा उबरता है, यह रामायण में सर्वत्र दिखायी देता है। वनवास के समय पुरवासियों का

विषाद, दशरथ और कौशल्या का विलाप, वन में विराध राक्षस द्वारा सीता को पकड़कर ले जाना, कबन्ध नामक राक्षस का लक्ष्मण को पकड़ लेना, सीता–हरण, सीता का अशोक–वाटिका में निवास इत्यादि प्रसंगों के चित्रण में शोक, चिन्ता तथा अवसाद के भाव करुणा के महासागर में लहरों के समान ऊपर उठते तथा नीचे गिरते हैं। करुण रस के अतिरिक्त श्रृंगार के संयोग एवं विप्रलम्भ–दोनों रूपों का मनोरम चित्रण वाल्मीकि ने किया है। इनके युद्ध–वर्णन भी अपनी गतिशीलता, बलशालिता तथा ओजस्विता में अतुलनीय हैं। प्रकृति–चित्रण में भी वाल्मिकि की लेखनी सिद्ध है। वन, पर्वत, नदी, सागर और वनस्पतियों के भीतर के जीवन–संचार का अनुभव वे हमें कराते रहते हैं।

राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में पहली बार वाल्मीकि की रचना–रामायण ने ही स्थापित किया। वाल्मीकि के ही शब्दों में राम के चरित्र में 'समुद्र के समान गाम्भीर्य और हिमालय के समान धैर्य' है। परदुःखकातरता, सहिष्णुता, स्नेह, त्याग और शौर्य के गुणों का अनुपम प्रतिमान राम के चरित्र के द्वारा आदि कवि ने प्रस्तुत कर दिया है। इन्हीं गुणों के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व दुर्लभ भव्यता से सम्पन्न होता है। जीवन के समग्र यथार्थ के बीच आदर्श का निर्वाह करना– वाल्मीकि के चरित्र–चित्रण की विशेषता है। मानव–स्वभाव की सूक्ष्मताएं और जटिलताएं उनके काव्य में विशेष रूप से चित्रित हैं। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच रहकर व्यक्ति अपने शील की किस प्रकार रक्षा करता है, यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखाया है। यदि आदिकवि ने राम के चरित्र का इस प्रकार चित्रण न किया होता, तो हमें सुन्दर गुणों के सामन्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता? रामायण को जितनी बार पढ़ा जाए, उतनी ही बार उसमें नयी–नयी बाते सूझती हैं। वाल्मीकि ने समाज में व्याप्त विकृतियों और दुर्बलताओं को गहराई से पहचाना तथा उनका चित्रण भी किया है। वे हमें राम, हनुमान, भरत जैसे महान चरित्रों के द्वारा यह बताते हैं कि इन बुराईयों से किस प्रकार बचा जाए।

रामायण एक उपजीव्य काव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित है। इससे स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अनेक अवान्तरकालीन कवियों ने अपने काव्यों को सजाया। आदिकवि की वाणी पवित्र जलवाली गंगा के समान है, जिसमें स्नान करके पाठक तथा कवि अपने आपको पवित्र ही नहीं समझते, अपितु रसमयी काव्यशैली से प्रेरणा भी ग्रहण करते हैं। अनेक साहित्यिक कृतियों को विषय–निर्देश देने में रामायण एक अजस्र स्रोत के रूप में समादृत रहा है।

(ग) महाभारत :

संस्कृत साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के बाद महर्षि व्यास ही श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनकी लेखनी से निकला हुआ 'महाभारत' विश्व–साहित्य के अनमोल रत्न के रूप में जाना जाता है। महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ है। वे पराशर ऋषि तथा सत्यवती के पुत्र थे। सत्यवती चेदिराज वसु की पुत्री थी, जिसे मल्लाहों के स्वामी दासराज ने पाला था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म लेने के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर

के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा यज्ञीय उपयोग की दृष्टि से एक वेद को चार संहिताओं में विभक्त करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। भारतीय परम्परा व्यास जी को ही महाभारत के साथ अठारह पुराणों का भी कर्ता मानती है। इस महाग्रन्थ में उनकी तीक्ष्ण मेधा सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। उन्होंने तीन वर्षों तक सतत जागते रहकर महाभारत नामक इस आख्यान का प्रणयन किया था। आधुनिक विद्वान् इसे किसी एक व्यक्ति की रचना न मानकर अलग–अलग व्यक्तियों द्वारा भिन्न समय में किये गये योगदान का प्रतिफल मानते हैं। इसीलिए वे इसे विकसनशील महाकाव्य (ग्रोंइंग एपिक्स) कहते हैं। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप हमारे सम्मुख आते हैं–जय, भारत और महाभारत। इस ग्रन्थ का मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। यही मूल महाभारत है, जिसे व्यास जी ने लिखा था। इसमें श्लोकों की संख्या 8800 बतायी जाती है। 'जय' के बाद विकसित होने पर इस ग्रन्थ का नाम हुआ–'भारत'। उस समय इसमें चौबीस हजार श्लोक थे और यह आख्यानों से रहित था। महाभारत का चरम विकास तब हुआ, जब 'सूत' ने 'नैमिषारण्य' में शौनक इत्यादि ऋषियों को इसे सुनाया। उस समय इसकी श्लोक संख्या एक लाख हो गयी। तभी से इसे 'शतसाहस्री–संहिता' के रूप में जाना जाने लगा। महाभारत जहाँ एक और 'इतिहास' के रूप में समादृत है, वहीं इसे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र भी कहा गया है।

महाभारत के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद दिखायी देता है। अनेक भीतरी एवं बाहरी साक्ष्यों के आधार पर अधिकांश विद्वान् वर्तमान महाभारत का रचनाकाल ईसा–पूर्व पंचम अथवा षष्ट शताब्दी के आसपास मानते हैं। 'रामायण' के समान 'महाभारत' की भी अनेक प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होती हैं। इनकी संख्या छत्तीस बतायी गयी है, जिनमें ज्ञानदीपिका, विषमश्लोकी, भारतार्थप्रकाशिका, अर्थदीपिका, भारतभावदीप, भारतोपाय प्रकाश इत्यादि प्रमुख हैं।

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं, जिनकी संख्या 18 है। वे इस प्रकार हैं– आदि, सभा, वन, विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थानिक तथा स्वर्गारोहण। आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव–पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभापर्व में पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का आधा राज्य मिलने के पश्चात् युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का वर्णन है। इसमें द्यूतक्रीड़ा, द्रौपदी का चीरहरण आदि की घटनाएं वर्णित हैं। वन पर्व में पाण्डवों के वनवास तथा उससे सम्बद्ध घटनाओं का वर्णन है। विराट पर्व में पाण्डवों के अज्ञातवास, कीचक–वध तथा अभिमन्यु एवं उत्तरा के विवाह का वर्णन है। उद्योगपर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना वर्णित है। भीष्म पर्व में अर्जुन के विषाद और श्रीकृष्ण का उसे श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश तथा भीष्म के शरशायी होने का वर्णन है। द्रोणपर्व में अभिमन्यु, जयद्रथ, घटोत्कच तथा द्रोण के युद्ध एवं वध का वर्णन किया गया है। कर्णपर्व में कर्ण के युद्ध और वध तथा शल्य पर्व में शल्य के सेनापतित्व में युद्ध और अन्त में उसके वध की कथा है। सौप्तिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वर्ध वर्णित है। स्त्रीपर्व में विधवा स्त्रियों के विलाप

का वर्णन है। शान्तिपर्व में भीष्म पितामह का युधिष्ठिर को दिया गया मोक्ष धर्म तथा राजधर्म का उपदेश वर्णित है। अनुशासनपर्व में भीष्म के द्वारा दान, धर्म, नीति और दर्शन की चर्चा की गयी है। अन्त में उनका स्वर्ग–गमन भी वर्णित है। अश्वमेध पर्व में युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र के पास जाकर युधिष्ठिर का राजनीति–सीखना तथा धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश वर्णित है। मौसल पर्व में बलराम तथा कृष्ण का महाप्रयाण और मूसलयुद्ध में यादवों का विनाश वर्णित है। महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय यात्रा का वर्णन किया गया है। अन्तिम स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना तथा वहीं कौरव–पाण्डवों के मिलन का वर्णन है।

महाभारत में अनेक रोचक एवं शिक्षाप्रद उपाख्यानों का संग्रह भी है। इन उपाख्यानों में प्रमुख हैं– शकुन्तलोपाख्यान, ययात्युपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामोपाख्यान, शिव्युपाख्यान, सावित्र्युपाख्यान, नलोपाख्यान इत्यादि। महाभारत में कुछ बड़े ही महत्वपूर्ण स्तोत्रों का भी संग्रह है। इनमें गजेन्द्रमोक्ष, विष्णुसहस्रनाम तथा भीमस्तवराज प्रमुख है। श्रीमद्भगवतद्गीता जैसा धर्म, अध्यात्म और दर्शन का महान् ग्रन्थ महाभारत का ही एक भाग है। भगवद्गीता के अतिरिक्त पराशरगीता, हंसगीता, विदुरगीता, ब्राह्मणगीता तथा अनुगीता जैसे ग्रन्थ भी महाभारत के ही अंग हैं।

महाभारत में शान्तरस की प्रधानता मानी गयी है। इसके सभी पात्र अपने आप में विलक्षण और विशिष्ट हैं। महर्षि वेद–व्यास ने भारतीय अर्थनीति, राजनीति तथा अध्यात्म विद्या के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थ रत्न में प्रस्तुत किया है कि यह वास्तव में भारत के धर्म तथा तत्वज्ञान का विश्वकोष है। धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राणतत्व है और इसीलिए व्यास जी ने अधर्म से देश का नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युदय की बात बड़े ही मनोरम ढंग से आख्यानों द्वारा हमें सिखलायी है। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन करना नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की सारहीनता दिखला कर प्राणियों को परम पुरुषार्थ–मोक्ष के लिए उत्सुक बनाना है। इसीलिए इसका मुख्य रस शान्त है, वीररस तो अंगभूत है। आदरणीय वीरों की वीरगाथा होने के कारण ही महाभारत महाकाव्य न होकर इतिहास ग्रन्थ है। यदि इसे एक महाकाव्य भी माना जाए, तो यह आध्यात्मिक महाकाव्य की कोटि में आ सकता है। महाभारत का संदेश आनृशंस्य का है। 'आनृशंस्यं परो धर्मः' यह वाक्य महाभारत में बार–बार आता है। व्यास जी के अनुसार मनुष्य, सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ तत्व है। मनुष्यत्व उसका धर्म है। इस मनुष्यत्व की रक्षा सबसे बड़ा धर्म है। यही आनृशंस्य है। यह आनृशंस्य युधिष्ठिर में कूट–कूट कर भरा हुआ है। इसीलिए वे इसके नायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

(घ) अर्थशास्त्र :

भारतीय इतिहास में कौटिल्य को एक महान् राजनीतिज्ञ के रूप में स्वीकार किया गया है। इनकी प्रसिद्ध कृति अर्थशास्त्र है। कौटिल्य के काल में 'अर्थ' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग होता था। इसके अन्तर्गत अर्थनीति, दण्डनीति, राजनीति,

धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र, युद्धशास्त्र आदि को सम्मिलित किया जाता था। अमरकोश में अर्थ के लिए धन, वस्तु, प्रयोजन, निवृत्ति, द्रव्य, स्वापतेय, रिक्थ, वसु, हिरण्य, द्रविण, द्युम्न, विभव आदि शब्दों का उल्लेख आया है। कौटिल्य स्वयं 'अर्थ' की परिभाषा इस प्रकार करते हैं– 'मनुष्यों की वृत्ति को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि का नाम अर्थ है। मानव के अर्थ सम्बन्धी प्रयासों का जिसमें विवेचन होता है, उसे अर्थशास्त्र कहते हैं।' कौटिल्य के अनुसार पृथ्वी के लाभ एवं पालन के लिए उपायों का विवेचन करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र है। अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इसमें शासन के सिद्धान्तों और प्रशासकीय तन्त्र का विवरण है।

अर्थशास्त्र पर पहली रचना वृहस्पति की मानी जाती है। पूर्ववर्ती उपलब्ध सभी महत्वपूर्ण कृतियों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में समावेश किया। इसमें कौटिल्य ने अपने काल के ज्ञात विदेशी व्यवहारों से भी सहायता ली। कौटिल्य भारतीय परम्परा के पोषक हैं और उनका मानना है कि वही राजनीतिक शक्ति सफल हो सकती है, जिसको अनुभवी राजनीतिज्ञों की मन्त्रणा के साथ पुरोहित वर्ग का समर्थन प्राप्त हो। कौटिल्य की दृष्टि में प्रजाहित सर्वोपरि है। उसकी शासन–पद्धति का प्रधान उद्देश्य प्रजा का सदा कल्याण आदि सुख है। उनकी दृष्टि में इस प्रकार की शासन पद्धति को कार्यान्वित करने के लिए एक योग्य, कर्मठ राजा की प्रथमतः आवश्यकता है। कौटिल्य ने राजाओं को उपदेश देते हुए कहा है कि उनको प्रजा के हित और सुख को निजी हित और सुख से ऊपर रखना चाहिए और उनके सुख में ही अपना कल्याण समझना चाहिए।

"प्रजा का सुख राजा का सुख है, प्रजा का हित राजा का हित है। अपना–अपना प्रिय करने में राजा का हित नहीं होता, जो प्रजा को प्रिय हो, उसे करने में राजा का हित होता है।"

आचार्य कौटिल्य दूसरे अन्य नामों से भी जाने जाते हैं। इनका एक लोकविश्रुत नाम 'चाणक्य' भी है। इन्हें चणक का पुत्र होने के कारण चाणक्य तथा कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कौटिल्य कहते हैं। कुछ लोग कुटल गोत्र में उत्पन्न होने के कारण कौटल्य कहना पसन्द करते हैं। आचार्य कामन्दक के 'नीतिसार' के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि इनका वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त और भी अनेक नाम इनके लिए प्रयुक्त होते हैं। डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल अर्थशास्त्र का रचना काल 400 ई0पू0 तथा जयचन्द विद्यालंकार ने 300 ई0पू0 माना है। महाकवि कालिदास की रचनाएँ तथा विशाखदत्त का मुद्रारक्षस अर्थशास्त्र से प्रभावित है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र का विषय–विस्तार : कौटिल्य का अर्थशास्त्र 15 अधिकरणों में विभक्त है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

1. प्रथम अधिकरण– इसका नाम विनयाधिकारिक है। इस अधिकरण में राजकाज की दृष्टि से राजा के सामान्य व्यवहारों का निरूपण किया गया है। इसमें 20 प्रकरण हैं।

2. द्वितीय अधिकरण– इस अधिकरण का नाम अध्यक्ष प्रचार है। इस अधिकरण में राज्य के तीस विभागों जैसे कोष, सेना, कृषि, उद्योग आदि के शीर्षस्थ अधिकारियों के कर्तव्यों का विवेचन किया गया है। इसमें भूमि व्यवस्था, पूँजी–निवेशन, भ्रष्टाचार नियंत्रण आदि समस्याओं का समाधान है।

3. तृतीय अधिकरण– इसका नाम धर्मस्थीय है। इसमें विधि–व्यवस्था तथा न्याय–प्रणाली का चित्रण है। इस अधिकरण में विधि–सम्बन्धी सम्पूर्ण संहिता प्रस्तुत है। इसमें धर्मशास्त्र के अनुसार मुकदमों के निर्णय निरूपित किये गये हैं।

4. चतुर्थ अधिकरण– इसका नाम कण्टकशोधन है। इसमें लालालोलुप व्यवसायियों, अपराधियों तथा प्रजापीड़क राजकर्मचारियों द्वारा प्रजा के शोषण तथा उत्पीड़न को नियंत्रित करने का विवेचन है। इसमें समाज के लिए कण्टक बने व्यक्तियों को दण्डित करने के नियमों का वर्णन है।

5. पंचम् अधिकरण– इस अधिकरण का नाम योगवृत्त है। इसमें राज्य के आन्तरिक शासन सम्बन्धी विविध विषय हैं। इसमें राजा के प्रति राज्य कर्मचारियों के कर्तव्यों और विश्वासघाती कर्मचारियों के प्रतिकार के उपाय वर्णित हैं।

6. षष्ठ अधिकरण– इसका नाम मण्डलयोनि है। इस अधिकरण में राज्य की सत्ता सात प्रकृतियों में से प्रत्येक को आदर्श बनाने वाले गुणों का विवेचन है। इस अधिकरण में स्वराज्य, शत्रुराज्य, मित्रराज्य, मध्यम राज्य तथा उदासीन राज्य वाले राज्यमण्डल की भी चर्चा है।

7. सप्तम अधिकरण– इस अधिकरण का नाम षाड्गुण्य है। इसमें सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय एवं द्वैधीभाव पर आधारित छः सूत्री परराज्य–सम्बन्धी नीति का विवेचन किया गया है।

8. अष्टम अधिकरण– इसका नाम व्यसनाधिकरिक है। इस अधिकरण में सब प्रकार के व्यसनों का वर्णन है। व्यसन के नियंत्रण एवं उपायों का निरूपण इस अधिकरण में किया गया है।

9. नवम अधिकरण– इस अधिकरण को अभियास्यत्कर्म कहते हैं। इसमें युद्ध की तैयारियों से सम्बन्धित वर्णन है। इस अधिकरण में सेना, सैन्य संगठन, युद्ध हेतु उचित समय, प्रस्थान से पूर्व की सावधानियाँ तथा खतरों से बचाव हेतु आवश्यक उपाय वर्णित हैं।

10. दशम अधिकरण– इस अधिकरण का नाम सांग्रामिक है। इस अधिकरण में युद्ध का वास्तविक वर्णन है। विजय के निमित्त युद्ध सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। छावनी निर्माण, व्यूह रचना, प्रहार आदि प्रक्रियाओं का समावेश इस अधिकरण में है।

11. एकादश अधिकरण– इसका नाम संघवृत्त है। इस अधिकरण में संघ राज्यों में विभेद उत्पन्न करने तथा संघों को आत्मसात् करने के उपाय प्रतिपादित हैं।

12. द्वादश अधिकरण– इस अधिकरण का नाम आबलीयस है। इसमें दुर्बल राजाओं द्वारा प्रबल राजाओं के प्रतिकार समबन्धी नियमों का वर्णन है। इस दृष्टि से इस अधिकरण में दूतकर्म, राजमण्डल की सहायता, काम–क्रोध आदि भेदक उपायों का निरूपण इस प्रकरण में है।

13. त्रयोदश अधिकरण–इसका नाम दुर्गलम्भोपाय है। इस अधिकरण में शत्रु

के दुर्गों पर किस प्रकार अधिकार किया जाय, विजित राष्ट्र को विजेता द्वारा कै
शासित किया जायेगा, इत्यादि विषय वर्णित है।

14. चतुर्दश अधिकरण– इस अधिकरण का नाम औपनिषदक है। इसमें औष
और मन्त्रों के रहस्यों का वर्णन है, अर्थात् इसमें यह बताया गया है कि शत्रु पर वि
जादू–टोना–टोटका आदि का प्रयोग कर कैसे विजय प्राप्त किया जाय।

15. पंचदश अधिकरण– इसको तन्त्रयुक्त संज्ञा दी गयी है। इस अधिकरण
अर्थशास्त्र के निर्णय की बत्तीस युक्तियों का वर्णन करते हुए उद्धरण प्रस्तुत कि
गये हैं।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र बहुआयामी कृति है। यह 15 अधिकरणों, 150 अध्याय
180 प्रकरणों तथा 6000 श्लोकों से युक्त है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जर्मन विद्वा
ब्रेलोरेन ने लिखा है कि 'अर्थशास्त्र एक ऐसे प्रतिभावान् मस्तिष्क की उपज है ज
न कभी लक्ष्य भ्रमित हो सकता है और न कभी विशृंखल ही। यह ग्रन्थ राजनीति
विचारधारा की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया गया है। इसमें सामाजिक, आर्थिक
राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित सभी आवश्यक विषयों का उचित मार्गदर्श
उपलब्ध है।

अध्याय–6

भारतीय संगीत एवं ललित कलाएँ : परम्परा, स्वरूप एवं उदाहरण

मानव एक संवेदनशील प्राणी है। उसकी सहज प्रवृत्ति है अभिव्यक्ति। अपने चतुर्दिक की घटनाओं से वह न्यूनाधिक प्रभावित होता है। अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करने का वह कोई न कोई माध्यम भी खोज लेता है। कभी वह अपनी भाव–भंगिमा में परिवर्तन करके, कभी स्वरों के उतार–चढ़ाव से, कभी किसी फलक पर कुछ अंकित करके या किसी पाषाण खण्ड को काट–छाँट कर अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है।

अभिव्यक्ति की तीव्रता संवेदनशीलता की तीव्रता पर आधारित है। प्रागैतिहासिक मानव की तीव्र संवेदना ने ही उसे आलाप–विलाप या भित्ति पर कुछ अंकित कर स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए सर्वप्रथम विवश किया होगा वैसे प्रागैतिहासिक चित्रकला एवं मूर्तिकला के पीछे तत्कालीन मानव की दो भावनायें मुख्य रूप से काम करती रही हैं। पहला– अतीत का संरक्षण और दूसरा– अमूर्त भावों को मूर्त रूप देना। संगीत और काव्य के पीछे भी सम्भवतः यही कारण प्रभावी रहे हैं। वास्तु या स्थापत्य का प्रारम्भ सम्भवतः सुरक्षा एवं उपयोगिता के कारण हुआ। बाद में बड़े–बड़े महलों, गुफाओं या मंदिरों की वास्तुकला, कभी चित्रकला के साथ एकात्म हुई। कभी मूर्ति शिल्पों के साथ और कभी–कभी तो चित्रकला और मूर्तिकला दोनों के साथ एकरस हो अद्भुत सौन्दर्य का दर्शन मानव समाज को कराने लगी।

प्रारम्भ में भाषा के अभाव में, प्रागैतिहासिक मानव कुछ ध्वनि संकेतों और चित्रों के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करता था। उसकी चित्रात्मक अभिव्यक्ति के उदाहरण प्रागैतिहासिक काल की चित्रित गुफाएं सम्पूर्ण विश्व में पायी गयी हैं।

प्रागैतिहासिक मानव ने भारत के विभिन्न राज्यों को अपने ठिकाने को, जो प्रायः प्रकृति के शैलगुहा थीं, चित्रित किया। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, राजस्थान, गुजरात आदि राज्यों में तत्कालीन मानव की चित्राभिव्यक्ति आज भी देखी जा सकती है। तत्कालीन मानव द्वारा चित्रित विश्व का प्राचीनतम् प्रागैतिहासिक चित्रकला केन्द्र 'भीम बैठका' मध्य प्रदेश में है। भीम बैठकों के प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज विष्णु श्रीधर वाकणकर ने 1972 में किया। इसके अतिरिक्त पचमढ़ी (म0प्र0) एवं मिर्जापुर (उ0प्र0) आदि क्षेत्रों में भी प्रागैतिहासिक मानव निर्मित महत्वपूर्ण चित्र बने हैं। चित्रकला एवं संगीत के चित्रमय प्रमाण इन केन्द्रों पर प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

वास्तव में संगीत, चित्र और नृत्य भाव की आदिम अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रसन्नता

की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत किये जाने वाले विविध प्रयासों में संगीत (गायन, वादन, नृत्य) एवं चित्र मुख्य रहे हैं। इसके उदाहरण मिर्जापुर के आदि शैल चित्रों में प्रचुर मात्रा में मिले हैं। यहाँ की विन्ध्य पर्वत श्रृंखला में नृत्य करती आकृतियाँ बहुत बनी हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज में नृत्य प्रचलित था।

यद्यपि प्रागैतिहासिक काल में कई कलाएं प्रचलित थीं, जिनका प्रमाण हमको शैल गुहा भित्तियों पर मिलता है तथा वेदों में काव्य के अतिरिक्त संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य), चित्र, शिल्प, वास्तु आदि प्रमुख कलाओं के साथ–साथ अनेक उपयोगी कलाओं का भी स्थान–स्थान पर उल्लेख मिलता है। कला शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में हुआ है।

उपनिषदों में भी कला शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। जैसे– प्राचीदिक कला तथा दक्षिणादिक कला। वैदिक समाज में कलाकार को बहुत अधिक सम्मान प्राप्त था। वैदिक युग में काम (सम्पूर्ण प्रणय लीला) को प्रबुद्ध करने के लिए कला का प्रयोग होता था। परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में 'कला' शब्द का प्रयोग बहुत बाद में हुआ, जिसमें कला का अर्थ 'संस्कृति' के रूप में लिया जाने लगा।

वैदिक काल में नृत्य, गीत, वाद्य, साहित्य और कला–कौशल का प्रचलन था। परन्तु तब ये सभी विधायें कला के अन्तर्गत मानी जाती थीं। वैदिक कालीन चित्रकला के ठोस प्रमाण हमको नहीं मिलते हैं। परन्तु वेदों में प्राप्त प्रतीकात्मक सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाता है कि वह समाज वर्ण–सौन्दर्य एवं चित्रों में रुचि रखता था।

उस काल में चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला आदि सभी विधायें विकसित हो रही थीं। कालान्तर में शैशुनाक, मौर्य तथा गुप्तकाल में विकसित कला का अंकुरण निश्चित रूप से वैदिक काल की कला में हो चुका था।

ऋग्वेद की एक ऋचा से पता चलता है कि उस काल में चमड़े पर चित्र बनाने का प्रचलन था। ऋग्वेद के ही कुछ मंत्रों में यज्ञशालाओं की चौखटों पर द्वार देवियों, जो पूजी जाती थीं, के चित्र बनाने का उल्लेख मिलता है। चित्रण की यह परम्परा मौर्य युग में भी प्रचलित थी। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में ऊषा एवं रात्रि देवी की आकृति चित्रित करने का प्रमाण मिलता है।

अथर्ववेद के सूर्य और सूर्य पुत्री सूर्या से सम्बन्धित मंत्रों में वर्ण–सौन्दर्य और चित्रात्मकता हेतु रुचिकर प्रतीक मिलते हैं। वैदिक काल की कला का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति था। सामाजिक और भौतिक दृष्टि से कला की उपयोगिता पौराणिक युग से प्रारम्भ होती है।

वैदिक काल का एक वेद–सामवेद संगीत युक्त है। उसके मंत्रों का पाठ संगीत मय होता था। सामगायन में केवल तीन स्वर प्रयोग किये जाते थे जो क्रमशः स्वरित, उदात्त और अनुदात्त थे। ऋग्वेद में विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्रों का उल्लेख मिलता है। जैसे– दाण, कर्करि, दुन्दुभि, गर्गर, आघटि, वीणा, तूणव, शंख, बाकुर, नाड़ी इत्यादि।

सिन्धु घाटी सभ्यता के कलात्मक प्रमाण वहाँ की खुदाई (उत्खनन) से प्राप्त हुए हैं। वहाँ से वास्तु, मूर्ति, चित्र और संगीत के प्रमाण मिले हैं। इस सभ्यता के लोग सौन्दर्य प्रिय थे। चित्रकला का प्रमाण सिर्फ चित्रित मृदभाण्डों के द्वारा मिलता है। इस काल में मिट्टी, पत्थर और ताँबे की मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। मोहन

जोदड़ो से प्राप्त दाढ़ी वाले नासाग्र दृष्टि योगी की मूर्ति, वृषभ की मूर्ति और मातृ देवियों की कई मूर्तियाँ सिन्धु घाटी सभ्यता की मिली हैं। इस सभ्यता के निवासी साक्षर थे। भवन निर्माण, सड़क निर्माण एवं नगर योजना में वे बहुत आगे थे। मोहन जोदड़ो की खुदाई में बांसुरी, तन्त्रीयुक्त वीणा, कई नर्तकियाँ और वाद्य यंत्र बने मिले हैं। मोहन जोदड़ो का विशाल स्नानागार, लोथल का विशाल बन्दरगाह, घर, कुँआ, सड़कें आदि पकायी गयी ईंटों के बने हैं। यहाँ से प्राप्त अधिकांश मूर्तियाँ स्त्रियों की हैं जिन्हें मातृदेवी या महीमाता माना जाता है। यहाँ से एक नृत्यरत धड मिला है जिसे नटराज का प्राचीनतम् स्वरूप माना गया है। धातु की मूर्ति में नृत्यांगना की मूर्ति बहुत प्रसिद्ध है। मृद्भाण्ड (मिट्टी के बर्तन) पकायी मिट्टी के हैं जिन पर चमकदार पालिश किया गया है।

भारतीय प्राचीन शास्त्रों में कला के विविध प्रकार का उल्लेख है। यजुर्वेद के 30वें अध्याय में 64 कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। इसको वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में क्रमशः व्यक्त किया है। उनके क्रमानुसार पहला–गीतम (गाना), दूसरा–वाद्यम (वाद्य बजाना) और तीसरा–नृत्यम् (नृत्य करना) संगीत की कोटि में है। उनकी सूची में आलेख्यम् (चित्रकला) चौथे क्रम पर है। दसवें पर मणिभूमिका कर्म (जड़ाऊ कार्य करना), सैंतीसवाँ – तक्षणम् (बढ़ईगिरी) तथा चालिस पर धातुवाद (धातुओं को गलाकर मिलाना) का उल्लेख सम्भवतः मूर्ति कला के लिए वात्स्यायन ने किया है। अड़तीस क्रम पर वास्तु विद्या (गृह निर्माण कला) को तथा चौवन क्रम पर मानसी काव्य क्रिया (मौलिक काव्य रचना या आशु कविता करना) को रखा गया है। मानसी काव्य क्रिया ही काव्य (साहित्य) हेतु प्रयुक्त है।

काम सूत्र में वर्णित सभी कलाओं का ज्ञान नागरिकों को प्राप्त कर लेना चाहिए, ऐसा निर्देश भी दिया गया है। इन 64 कलाओं में सभी समान रूप से नागरिकों में लोकप्रिय नहीं थीं, क्योंकि इनमें से कुछ ललित कलायें जैसे– चित्रकला, संगीत आदि थीं और अधिकांश कौशल थीं जैसे– सुग्गा और मैना को पढ़ाना, माला गूँथना आदि। ये कलायें परम्परागत थीं और इनको जानने वाले सुसंस्कृत कहे जाते थे।

काम सूत्र में उल्लिखित चौसठ प्रकार की कलाओं पर यशोधर पंडित ने 'जयमंगला' नामक टीका लिखा।

यशोधर पंडित की टीका में ऐसी कलाओं का भी उल्लेख है जो पूरी तरह उपयोगितामूलक है और जिनको करने में कौशल की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यदि वात्स्यायन ने आलेख्यम (चित्रकला) को अपनी सूची में स्थान दिया है तो वहीं मेषकुक्कुट लावक युद्ध विधिः (भेड़ा, मुर्गा और लावकों को लड़ाने की कला) को भी समान स्थान दिया है।

भारत में ऐतिहासिक काल की सर्वप्राचीन मूर्तियाँ मगध के शैशुनाक नंदवंश के कई राजाओं की हैं। इन मूर्तियों पर नाम खुदा है। इस वंश की सबसे पुरानी मूर्ति अजातशत्रु की है। इस वंश के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रारम्भ किया मौर्य वंश आता है। सम्राट अशोक इस वंश का सबसे प्रतापी शासक था। उसके काल में वास्तुकला एवं मूर्तिकला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। उस समय की शिलास्तम्भों पर खुदी

मूर्तियाँ विश्व की उत्कृष्ट मूर्तियों की श्रेणी में आती हैं। अशोक द्वारा निर्मित चार प्रकार के वास्तु–स्तम्भ, भवन, गुहा तथा स्तूप में केवल स्तम्भों के शीर्ष भाग पर ही खुदाई है। सारनाथ का परगहा (स्तम्भ) अशोक का सिंह स्तम्भ सबसे सुन्दर है। दीदारगंज से प्राप्त चामरधारिणी यक्षी अशोक कालीन कला की सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

मौर्य काल के बाद भारतीय कला में मौलिक परिवर्तन हुआ। मौर्यकालीन कला सांसारिक विषयों पर आधारित नहीं थी, परन्तु शुंगकालीन कला सांसारिक विचारों से प्रभावित थी। शुंगकाल में सभी प्रकार के पशु–पक्षी, पुष्प, लता, बेल आदि उत्कीर्ण किये गये। शुंगकालीन कला के दो प्रमुख उदाहरण हैं– पहला–साँची तथा दूसरा–भरहुत।

साँची (70–20 ई0पू0)– साँची में अशोक के समय का बना हुआ एक विशाल स्तूप है। इसके चारो ओर तोरण और परिक्रमा करने के लिए दोहरी वेदिका बनी है। ये तोरण और वेदिका ही शुंग कालीन मूर्ति कला के प्रमुख उदाहरण हैं। यहाँ की वेदिका अलंकरण रहित है, जबकि तोरण अत्यन्त सुन्दर है। यहाँ के तोरणों में शाल भंजिकायें बहुत सुन्दर एवं कलात्मक बनी हैं। इन तोरणों पर बुद्ध के जीवन और पूर्व जन्म (जातक कथायें) पर आधारित दृश्यों के उत्कीर्ण होने के साथ–साथ तत्कालीन जीवन के विविध पक्षों की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इसीलिए साँची के तोरण को उस युग की संस्कृति एवं जीवन का विश्व कोष कहा जाता है। हीनयान से सम्बन्धित होने के कारण बुद्ध से सम्बन्धित घटनाओं को साँची में प्रतीक रूप में दिखाया गया है।

भरहुत– भरहुत वेदिका पर धार्मिक, ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त आदमकद यक्षिणी मूर्ति खुदी है। यद्यपि यह मूर्ति अनुपात रहित और भारी है फिर भी सुन्दर लगती है। यहाँ की मूर्तियों में लोच का अभाव और गतिहीनता है। इन मूर्तियों में बुद्ध दर्शन को जाते कोशल नरेश प्रसेनजीत के रथ का दृश्य तथा हाथी पर सवार अजातशत्रु का दृश्य प्रसिद्ध है।

कुषाण सातवाहन काल में भारत की कला पुनः चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी। गांधार और उससे मिले हुए पश्चिमी पंजाब में एक ऐसी मूर्तिकला का विकास इस समय हुआ, जिसका विषय अधिकतर बौद्ध था। लेकिन शैली की दृष्टि से यह यूनानी शैली के अधिक निकट है। इस शैली (गांधार शैली) की मूर्तियों में अनुपात, पारदर्शी प्रभाव, घुंघराले केश बनाये गये तथा इस शैली में वाह्य सौन्दर्य और भौतिक यथार्थ पर अधिक बल दिया गया है।

गांधार की तरह मथुरा भी कुषाण काल में एक महत्वपूर्ण मूर्ति शिल्प केन्द्र था। मथुरा में कुषाण आश्रय पाकर भरहुत की शैली और साँची की उन्नत शैली, जो पहले से चली आ रही थी, एक हो जाती है। इसे ही मथुरा शैली कहते हैं। इस शैली की मूर्तियों की बनावट चिपटी नहीं है।

जिस समय उत्तरी भारत में गांधार और मथुरा शैली पराकाष्ठा पर थी उस समय दक्षिण भारत में बहुत ही महत्वपूर्ण मूर्ति शिल्प का निर्माण हुआ। उत्तरी भारत के स्तूपों की तुलना में अमरावती और नागार्जुन कोण्डा के स्तूप अपनी अलग विशेषता रखते हैं। संगमरमर से पूरी तरह ढके अमरावती के स्तूप और बाड़ के फलकों पर आश्चर्यजनक मूर्तियाँ और अलंकरण बने हैं। साँची तथा भरहुत की

तरह यहाँ भी हीनयान प्रभाव के कारण बौद्ध प्रतीकों का अंकन हुआ है तथा महायान प्रभाव से यहाँ बुद्ध प्रतिमा भी बनी है। अमरावती की विशेषता यह है कि यहाँ कलाकार प्रतीक से मूर्ति (बुद्ध की) की ओर अग्रसर हुआ। यह स्तूप आन्ध्र प्रदेश का गौरव तथा सातवाहन युग की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कृति है।

गुप्तकाल मूर्तिकला का स्वर्ण युग कहलाता है। गुप्त सम्राटों का कला प्रेम और रुचि उनके युग के प्रत्येक कृति में टपकती है। गुप्तकाल में बौद्ध चित्रकला का भारत एवं एशिया में बहुत प्रचार–प्रसार हुआ। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के अनुसार बौद्ध चित्रकला की तीन प्रमुख शैलियाँ हैं : 1. देव शैली, 2. नाग शैली और 3. यक्ष शैली।

विश्व विख्यात अजन्ता गुहा मण्डप के चित्र इसी युग की देन हैं। भारतीय भित्ति चित्रों के इतिहास में अजन्ता के अतिरिक्त बाघ, जोगीमारा, एलोरा, सित्तनवासल आदि का नाम प्रमुख है।

बौद्ध चित्रकला के प्रमुख केन्द्र अजन्ता गुहा में चित्रकला, मूर्ति कला, और स्थापत्य कला का अद्वितीय संगम दिखायी देता है। यहाँ बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं, जीवन के प्रति उनके सिद्धान्त, उपदेश तथा जातक कथाओं के साथ–साथ तत्कालीन सामाजिक जीवन का भी सफल चित्रण हुआ है।

अजन्ता में छोटी–बड़ी कुल 30 गुफायें हैं। इनमें 9, 10, 19 तथा 26वीं चैत्य गुफायें हैं तथा शेष विहार गुफायें हैं। विद्वानों के अनुसार यद्यपि अजन्ता में लगभग 20 प्रकार की शैलियाँ हैं तथापि गुप्त शैली की वहाँ प्रधानता है। अजन्ता के चित्रों में बोधिसत्व पद्मपाणि, मरणासन्न राजकुमारी, बोधिसत्व वज्रपाणि, माता–पुत्र, हस्ति समूह, जुलूस आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

बाघ की गुफायें भी अपने चित्रों की भावाभिव्यक्ति के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। ये गुफायें महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। यहाँ की "दो शोकाकुल नारी" अत्यन्त प्रसिद्ध चित्रकृति है। यहाँ के चित्रों में कोमलता, वास्तविकता, लय एवं गति है तथा इसकी शैली और तकनीक अजन्ता के समान है।

बादामी की गुफा में इन्द्र सभा, वाराहावतार, अठारह हाथों वाले नटराज अत्यन्त प्रसिद्ध चित्र हैं। यहाँ के चित्र सांसारिक विषयों पर आधारित हैं तथा अन्तर्जगत के भावों की सुन्दर और स्पष्ट अभिव्यक्ति करते हैं।

सित्तनवासल के चित्र भी उच्च कोटि के हैं। यद्यपि यहाँ के चित्रों, विशेषकर नृत्य मुद्रा के चित्रों की रेखायें अत्यन्त सशक्त, प्रवाहमान एवं प्रौढ़ हैं तथापि वे अत्यधिक मृदुल हैं। यही वैशिष्ट्य यहाँ की रंगयोजना की भी है।

6वीं–7वीं शताब्दी की एलिफैन्टा की 'त्रिमूर्ति' विश्व विख्यात है। इस मूर्ति में कलाकार ने भगवान शिव को सृष्टा, पालक और संहारक तीनों रूप में दिखाया है। नवीं से ग्यारहवीं शती के लिंगराज मंदिर और जगन्नाथ मंदिर (भुवनेश्वर) भी मंदिर एवं मूर्ति शिल्पों के लिए विख्यात हैं। कोणार्क का सूर्य मन्दिर अद्भुत शिल्पयुक्त है। मध्ययुगीन भारतीय मंदिरों में दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी का खजुराहो का मंदिर नागर शैली का विश्व विख्यात उदाहरण है। यह हिन्दू मन्दिर है। यहाँ का कन्डरिया महादेव मंदिर भगवान शिव से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त महाबलिपुरम् के मंदिर तथा मदुरै का मीनाक्षी मंदिर भी अद्भुत शिल्पयुक्त है।

यद्यपि भारत में मूर्ति शिल्पों की एक लम्बी परम्परा रही है। फिर भी इतने सम्पन्न मूर्ति शिल्प थाती के बाद भी यह कहा जाता है कि भारतीय मूर्ति कला केवल दो कृतियों के निर्माण करने में पूरी तरह समर्थ हुई। पहली– शांति और स्थिरता की अभिव्यक्ति में "बुद्ध मूर्ति" और दूसरी– गति और संसृति के निर्देशन में "नटराज" की मूर्ति।

महाराष्ट्र में स्थित एलोरा की पश्चिमाभिमुखी गुफाओं में कुल 34 गुफा मंदिर हैं। गुफा संख्या 13 से 19 ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित हैं। 30 से 34 जैन धर्म से और शेष गुफायें बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। इन बारह गुफाओं में ग्यारह विहार गुफायें तथा दसवीं चैत्य गुफा है। कुछ गुफायें विहार एवं चैत्य का मिला–जुला रूप है। यहाँ चित्रों के साथ–साथ मूर्तियाँ भी बनी हैं। ये मूर्तियाँ अपने अनूठे लालित्य के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्द्र सभा नामक गुफा (गुफा सं0–32) अत्यन्त प्रसिद्ध है।इसमें कल्पसूत्र (जैन धर्म) से सम्बन्धित चित्र बने हैं।

उत्तर मध्यकालीन कला अपनी विशिष्टता एवं उपलब्धता के कारण कई नामों से जानी जाती है। जैसे–जैन शैली, गुजरात शैली, अपभ्रंश या पश्चिमी भारत शैली। जैन शैली का नाम भारतीय चित्र कला के इतिहास में कागज पर की गयी चित्रकारी के सन्दर्भ में सर्वप्रथम आता है। इस काल में अधिकांशतः पोथी चित्रण हुआ, जिसमें स्वर्ण एवं रजतमय स्याही का प्रयोग अत्यन्त कुशलता से हुआ। इस शैली के चित्रकारों ने भारतीय चित्रकला के इतिहास में तकनीक और शैलीगत कुछ नवीनताओं का प्रयोग किया है। यही कारण है कि ये चित्र भारतीय कला इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस शैली की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता नेत्र चित्रण है। इन चित्रों में नेत्र पास–पास बने हैं तथा उसका आकार परवल के खड़े बल कटी हुई फाँक की तरह है। ये नेत्र विशाल तथा कान को छूते हुए (आकर्ण विस्तृत) बने हैं। पुतली बहुत छोटी तथा टुड्ढी छोटी, दोहरी और उभरी हुई बनी है। मुखाकृति में नाक अप्राकृतिक रूप से नुकीली बनी है। नारी आकृतियों में छाती का उभार बहुत अधिक बना है।

पन्द्रहवीं शताब्दी भारतीय इतिहास में कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजस्थान के राजनैतिक उथल–पुथल के बाद भी इस काल में कला, साहित्य और संगीत समबधी क्षेत्रों में विकास हो रहा था। हिन्दी साहित्य के लगभग सभी रीति ग्रन्थ इसी युग की देन है। सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि अनेक साहित्यिक प्रकाश स्तम्भों के प्रकाश में चित्रकला चमकने लगी। उसी प्रकाश में राम–कृष्ण सम्बन्धी अनेकों चित्र एवं राग–रागिनी चित्र, षट्ऋतु, बारहमाषा आदि विषयक अनेकों चित्र बने। राजस्थानी शैली के आमजन की भावनाओं को भी चित्रित किया गया। विविध विषयों का समादर चित्रकला में हुआ।

भारत में मुगलों के आगमन से भारतीय कला में परिवर्तन हुआ और एक नयी कला शैली उत्पन्न और विकसित हुई। मुगलों के साथ आयी ईरानी शैली और भारतीय कला शैली के समन्वय से मुगल शैली का जन्म हुआ। मुगल शैली में उच्च कोटि के स्थापत्य और चित्रों का निर्माण हुआ। चित्रों में अतिसूक्ष्मता (बारीकी) इस

शैली की प्रमुख विशेषता है। इस शैली में मुख्य रूप से दो प्रकार के चित्र बने हैं। पहला–व्यक्ति चित्र (शबीह) और दूसरा–लघु चित्र। इस शैली में दरबार दृश्य, शिकार दृश्य तथा शबीह चित्रण के साथ–साथ प्रमुख धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर भी चित्रण हुआ है। पशु–पक्षी चित्रण में यह शैली अद्वितीय है।अकबर का समय मुगलकालीन चित्रकला का स्वर्ण युग था उसने संगीत और कला को बहुत प्रोत्साहित किया। मुगल शैली में चित्र, संगीत और स्थापत्य कला का बहुत विकास हुआ।

बाबर से औरंगजेब तक चली मुगल शैली के बाद कलाकार पहाणी रियासतों में शरण लेने लगे। इन कलाकारों ने पहाणी रियासतों में कला के एक नये रूप को विकसित किया। भारतीय कला की इस महत्वपूर्ण शैली में राग–रागिनी, नायक–नायिका के अतिरिक्त धार्मिक विषयों पर भी उच्च कोटि का चित्रण हुआ। परन्तु अंग्रेजों के आगमन के कारण भारतीय कला धीरे–धीरे अत्यन्त कमजोर पड़ने लगी। कलाकार आश्रयहीन होने लगे। आश्रयहीनता के कारण विवश भारतीय कलाकारों ने यूरोपीय शैली का समावेश भारतीय कला शैली में किया। यह शैली कम्पनी शैली कहलाई।

भारतीय समाज में अन्य ललित कलाओं की तरह संगीत का भी महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत का साथ भाव की उत्पत्ति से लेकर अन्तिम साँस तक बना रहता है। भारतीय संगीत की अपनी एक अलग परम्परा रही है। भारतीय संगीत मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे– प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल।

प्राचीन काल को भी वैदिक काल, संदिग्ध काल और भरत काल में बाँट सकते हैं। आदिकाल से 1000 ई0पू0 तक वैदिक काल माना गया है, जिसमें सामवेद, सामगान का प्रचलन था। संदिग्ध काल 1000 ई0पू0 से 1 ई0 तक है।इसमें छांदोग्य और वृहदारण्यक उपषिदों में सामगायन एवं वाद्यों का उल्लेख मिलता है। तीसरा काल भरत काल है जिसमें भरत कृत नाट्यशास्त्र, दत्तिलकृत दत्तिलम्, मतंङ्गमुनि कृत वृहद्देशी जैसी संगीत के महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।

आठवीं से अठारहवीं शताब्दी संगीत का मध्य काल है। 8वीं से 13वीं शताब्दी तक पूर्व मध्यकाल माना जाता है। इस समय शारंग देव कृत संगीत रत्नाकर, पं0 जयदेव कृत गीत गोविन्द जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। नवीं से बारहवीं शताब्दी के समय भारत में संगीत की बहुत उन्नति हुई। यह काल संगीत का स्वर्ण युग माना जाता है। उत्तर भारत पर मुसलमानों के वर्चस्व के कारण संगीत भी प्रभावित हुई और उत्तर भारतीय संगीत का चरित्र दक्षिणी संगीत से अलग हो गया। इस काल के नारद विरचित संगीत मकरन्द, जयदेव कृत गीत–गोविन्द तथा शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर इत्यादि महत्वपूर्ण संगीत ग्रन्थ हैं।

उत्तर मध्य काल 13वीं से 18वीं शताब्दी तक माना गया है। इस काल में फारसी और उत्तर भारतीय संगीत का सम्मिश्रण हुआ। इसी काल में अमीर खुसरो नामक संगीत के प्रसिद्ध विद्वान हुए। लोचन कृत राग तरंगिणी इस काल की प्रथम पुस्तक है। कल्लिनाथ इस काल के एक विख्यात संगीतज्ञ थे, जिनके नाम पर राग–रागिनी वर्गीकरण का एक मत है। भारतीय संगीत के चार प्रमुख मतों में से अन्य तीन मत हैं– शिवमत (सोमेश्वर मत), भरत मत तथा हनुमन्मत।

मुगल शासकों के समय मूर्ति कला को छोड़कर प्रायः सभी ललित कलाओं का विकास हुआ। अकबर स्वयं कला प्रेमी था। आईने–ए–अकबरी के अनुसार उसके दरबार में 36 संगीतज्ञ थे, जिनमें तानसेन (तन्ना मिश्र) मुख्य थे। इस काल में तुलसी, सूर, मीरा जैसे भक्त कवियों द्वारा भी जनता में संगीत का प्रचार बढ़ा। इस काल में दामोदर मिश्र ने संगीत दर्पण तथा अहोबल ने संगीत पारिजात ग्रन्थ की रचना की। इसी युग में मोहम्मद शाह रंगीले जैसे संगीत प्रेमी के दरबार में सदारंग और अदारंग दो प्रमुख गायक थे।

भारतीय ललित कलाओं के संक्षिप्त वर्णन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मानव की उत्पत्ति के साथ–साथ ललित कलाएं उसकी संगिनी बन गयीं। यह और बात है कि कुछ ललित कलाएं मानव उत्पत्ति के प्रारम्भ से ही उसके साथ हो गयीं और कुछ बात में। वैसे सच तो यह है कि ललित कलाओं के बिना मानव जीवन असम्भव है। कुछ रचने की मनुष्य के मूल भाव को आकाश और तृप्तिगत विराम ललित कलाएं ही देती हैं।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर (कतिपय अंधकार युग को छोड़कर) अब तक इन ललित कलाओं की अलग–अलग स्वस्थ परम्परा चली आ रही है। इन परम्पराओं में धीरे–धीरे बदलाव भी आता है। इससे एक लाभ यह होता है कि ललित कलाओं के अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने या स्वरूप निर्धारण में जड़ता या बासीपन नहीं आने पाता है। प्रारम्भ से लेकर अब तक भारतीय ललित कलाओं की सशक्त परम्पराओं द्वारा विविध स्वरूप निर्धारण के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिन पर प्रत्येक भारतीय गर्व कर सकता है।

अध्याय–7

भारत में भक्ति–आन्दोलन : संक्षिप्त परिचय

भारत का भक्ति–आन्दोलन यहाँ के जीवन को संचालित करने में बड़े महत्त्व का प्रस्थान रहा है। व्यक्ति का आन्तरिक विश्वास तथा अन्य के प्रति व्यवहार वाली अपनी बहुत–सी उदात्त सांस्कृतिक उपलब्धियाँ इसकी देन हैं। इस भू–भाग का बड़ा क्षेत्र लम्बे समय तक इसके प्रभाव में रहा है। इसकी शुरुआत भागवत–पुराण से मानने की बातें भी विद्वानों के बीच हैं, लेकिन भक्ति–आन्दोलन की मूल–पूँजी आलवार संतों की कमाई– 'प्रबन्धम्' से ही निकली है। भारत की जाति–व्यवस्था में निचली सीढ़ियों पर आने वाले ही इन आलवार सन्तों में मुख्य हैं। इनकी निधि ज्ञान नहीं, अपितु हृदय एवं आचार की पवित्रता थी; और यही पूरे भारतीय भक्ति–आन्दोलन के केन्द्र में है। इसी का विकास और विस्तार देश–काल के अनुसार आगे हुआ। दक्षिण भारत के आलवार सन्तों की भाव–विह्वलता के क्रोड में पली–बढ़ी भक्ति ही अन्य स्थानों पर फैली है, यह बात भक्तों के बीच बहुप्रचलित इस दोहे में भी है–

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सात द्वीप नौ खंड।।

और भागवतकार ने भक्ति की जन्म–भूमि दक्षिण को मानकर ही यह संकेत दिया है–

उत्पन्न द्रविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटकं गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्र गुर्जरे जीर्णतां गता।।

भक्ति–आन्दोलन एक तरह से भारत का आत्म–परिस्कार एवं अवदात जीवन की ओर उन्मुखता है। इसने साधु और सन्त जैसी महानता को स्थापित करने के साथ ही, आमजन के बीच भक्त होने की ललक भी जगा दी। भारत के बड़े भाग में, कुछ भेद के साथ यह भक्ति विद्यमान रही है। भक्तों ने अपने जीवन और वाणी से इसे बोधगम्य बनाते हुए सामान्य आदमी के लिए बहुत ही स्पृहणीय मसला बना दिया था। भक्त होना या भक्तों का सेवक बन जाना, इस आन्दोलन की जीवनी–शक्ति थी। बाद के दिनों में जब यह ऊर्जा चुक गई और मात्र जीने–खाने का मार्ग ही इसमें शेष बचा; तो भारत की अपनी उदात्त–वृत्ति फिर अन्य पथ की ओर संचरित हो गई।

भारतीय भक्ति–भावना और वैष्णव भक्ति–आन्दोलन :

वैसे तो भागवत–पुराण तथा 'प्रबन्धम्' से भक्ति को प्रादुर्भूत माना जाता है, लेकिन प्रश्न यह भी है कि क्या भक्ति का भारत में इनके पूर्व कहीं पता ही नहीं था? भक्ति के प्रमाण विष्णुपुराण में भी हैं, देवी–भागवत में भी और कूर्म, वायु तथा शिव पुराणों में भी। इनमें विष्णु–पुराण तो निश्चय ही भागवत–पुराण से पहले का है। इससे भी अधिक निश्चित प्रमाण यह है कि महाभारत में भक्ति अत्यन्त सुविकसित रूप में मिलती है और गीता, जो महाभारत का अंश है, भक्ति का प्रतिपादन बहुत ही स्पष्ट भाषा में करती है। वेद में भक्ति का स्पष्ट प्रमाण तो नहीं है, किन्तु, यह कैसे कहा जा सकता है कि आर्य इन्द्र, अग्नि, वरुण और आदित्य की प्रसन्नता के लिए जो यज्ञ करते थे, उनमें इन देवताओं के लिए कोई भक्तिभाव नहीं था? बहु–देववाद के भीतर से आर्य बराबर किसी एक, अदृश्य, परम सत्ता की ओर उन्मुख रहते थे। धर्म का जन्मस्थान सृष्टि के रहस्यों पर चकित होने का भाव है। हम कौन हैं? यह सृष्टि कहाँ से निकली है? प्रकृति की अनेक विभूतियों में से वह विभूति कौन है जो हमारी श्रद्धा की अधिकारिणी है? कस्मै देवाय हविषा विधेम? जो आर्य भाव–विह्वल होकर अपने आप से ऐसे प्रश्न पूछते थे, उनके हृदय में भक्ति नहीं तो और किस भाव की प्रेरणा थी? सच तो यह है कि जिस जिज्ञासा से धर्म की उत्पत्ति होती है, उसी जिज्ञासा में भक्ति के भी बीज मौजूद रहते हैं। प्रतिमा–पूजन के निशान मोहनजोदरो में मिले हैं, इससे यह अनुमान होता है कि भक्ति भारत का सनातन–धर्म थी और आर्यों के पहले से ही वह इस देश में प्रचलित थी। आर्यों के आगमन के बाद आर्य तो हवन–कर्म द्वारा ही अपने देवताओं को प्रसन्न करते रहे, किन्तु इतर जनता उस समय भी भक्ति और पूजा ही करती थी। फ्रांसीसी विद्वान सेनार्त का यह विचार है कि भारत में भक्ति किसी कट्टर पंथ के रूप में नहीं उठी। वह एक शक्तिशालिनी भावना रही है, जिससे भारत का इतिहास और समस्त काव्य परिव्याप्त है।

डॉ.भण्डारकर का तो यह मत है कि पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व में वैष्णव–धर्म एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों को आधार बनाकर धर्म–सुधार–आन्दोलन के रूप में एकान्तिक धर्म के नाम से खड़ा हुआ। उस समय 'गीता' की रचना हुई और शीघ्र ही उसने एक सम्प्रदाय का रूप धारण किया जिसे पांचरात्र या भागवत धर्म कहा जाने लगा। सात्वत वंश वालों ने इसे बढ़ावा दिया। पहली शती ईसवी तक इस सम्प्रदाय में बालगोपाल का अभाव रहा। उसके पश्चात आभीरों ने बालगोपाल की कथाओं का समावेश किया और आठवीं शताब्दी तक यह सम्प्रदाय इसी रूप में चलता रहा। तब शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ, जिससे भक्ति–आन्दोलन में गतिरोध आ जाने की आशंका हुई, किन्तु ११वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने उसे संभाला और उसे नया रूप प्रदान किया। उत्तर में निम्बार्काचार्य ने उनका अनुकरण किया और बालगोपाल की उपासना को प्राधान्य दिया। तेरहवीं शती में मध्वाचार्य ने भक्ति–आन्दोलन को आगे बढ़ाया। उत्तर भारत में रामानन्द ने उसके विकास को

गतिशील किया और भागवत धर्म में रामोपासना का प्रचार किया। १५वीं शती में कबीर ने भक्ति–आन्दोलन के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया और १६वीं शती में बल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णोपासना को आगे बढ़ाया। –('वैष्णवइज्म, शैवइज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट')

डॉ.मलिक मोहम्मद की दृष्टि में, "भारतीय धर्म–साधना में भक्ति–मार्ग का अपना विशिष्ट धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व रहा है। यही वह मार्ग है जिसने सर्वप्रथम व्यापक रूप से समाज के संपूर्ण अंग को प्रभावित किया और एक बहुत ही लम्बी अवधि तक उसका पथ–प्रदर्शन करते हुए स्थायी मोड़ दिया। इसे साहित्यकारों, समाजसेवियों और धर्माधिकारियों का समान रूप से सहयोग प्राप्त होता रहा है। भारतीय संस्कृति को जितना अधिक इस भक्ति–मार्ग ने प्रभावित किया, उतना कोई दूसरा स्रोत कर नहीं सका।" भारतीय भक्ति–भावना को स्पष्ट करते हुए डॉ मोहम्मद ने यह भी बताया है कि "वैसे वैष्णव भक्ति का उद्भव कुछ विद्वान् वैदिक युग से मानते हैं। परन्तु जिस भावमूलक भक्ति का स्वरूप अब हमारे सामने है, उसके दर्शन वेदों में नहीं होते। वैदिक युग प्रधानतः यज्ञीय–कर्मकाण्ड का युग था। उपनिषद काल में आकर ही भक्ति–भावना का स्पष्ट रूप मिलता है। भक्ति–भावना के विकास में उपनिषदों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सभी परवर्ती चिन्तकों ने उपनिषदों से ही अपना कदम बढ़ाया है। फिर रामायण, महाभारत तथा गीता के युग तक आकर वैष्णव भक्ति–भावना का काफी विकास हो जाता है। इस प्रकार वेद, उपनिषद्, महाकाव्य, गीता, प्रबन्धम्, भागवत आदि वैष्णव भक्ति–भावना के विकास के विभिन्न सोपान हैं।" साथ ही वे यह भी कहते हैं कि "दक्षिण अर्थात् तमिल–प्रदेश में ईसा की पाँचवी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक सशक्त रूप में लोकप्रिय रहने वाला भक्ति–आन्दोलन वैष्णव भक्त आलवार और शैव सन्त नायनमारों की देन है। परवर्ती युग में कई कारणों से तमिल–प्रदेश का वैष्णव भक्ति–आन्दोलन वैष्णव आचार्यों के माध्यम से तमिल प्रदेश की सीमा को पार कर नाना भागों में प्रसारित हो सका और हिन्दी प्रदेश में सशक्त रूप में प्रचार पा सका। उसकी तुलना में तमिल–प्रदेश के शैव भक्तों का शैव–भक्ति–आन्दोलन कुछ कारणों से तमिल–प्रदेश में ही सीमित रह गया।" – 'वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन; डॉ.मलिक मोहम्मद, पृ.१३

संक्षेप में, तमिल 'प्रबन्धम्' के आधार से विकसित हुई भक्ति का संक्षिप्त विकास–पथ इस प्रकार है–

दक्षिण के आलवार सन्त और 'प्रबन्धम्' वाली भक्ति :

भक्ति का पुट वैसे वेदों में भी है, किन्तु वेदों का सारा जोर कर्मकाण्ड पर है। जिस भक्ति का व्यापक प्रचार भागवत के समय में आकर हुआ, उसके बीज, उद्भव और विकास की सारी कहानियाँ आगम–ग्रन्थों में हैं। इसी आगमिक धारा की परिणति भक्ति में हुई।

गीता उपनिषद् कही जाती है, अतएव वह निगम–ग्रन्थ है। किन्तु, यह

भागवत–आगम भी समझी जाती है। भगवान् कृष्ण का अप्रतिम महत्त्व यह है कि उन्होंने भागवत–सम्प्रदाय की भक्ति को वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह अध्यात्म से एकाकार कर दिया। गीता वह प्राचीनतम धर्म–ग्रन्थ है जिसमें भारत की वैदिक और प्राग्वैदिक धाराएँ, निगम और आगम, एक स्थल पर मिल जाते हैं। गीता के बाद से यह पूछना ही व्यर्थ है कि कर्म (वेद, निगम), ज्ञान (उपनिषद्, निगम ही) और भक्ति में से कौन तत्त्व प्रमुख और कौन अप्रमुख है। वेदों और उपनिषदों की विशेषता सर्ववाद थी। आगम, आरम्भ से ही, किसी–न––किसी ईश्वर को लक्ष्य मानकर चलते आये थे।

धर्म पहले व्यक्ति के हृदय में उदित होता है। भक्ति भी पहले व्यक्ति के ही भीतर जन्म लेती है। मनुष्य का हृदय किसी पर न्योछावर होना चाहता है। आदमी किसी के पाँव पकड़कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। यही भावना जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है, तब वह भक्ति बन जाती है।

आलवार भक्तों ने परम्परागत शास्त्रसम्मत भक्तिभावना में सुधार किया, न कि उसका आमूल परिवर्तन किया। वैदिक–भक्तिधारा तथा द्रविड़–भक्तिधारा का उन्होंने समन्वय किया। वेद, उपनिषद्, गीता से विचारों को ग्रहण कर, उसमें युगानुकूल दूसरे तत्त्वों का भी समावेश करके भक्ति–धर्म को लोक–धर्म का व्यापक रूप प्रदान किया। सामाजिक स्तर पर वैष्णव भक्ति का द्वार सभी जातियों के लिए खोलकर आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति को पहली बार लोक–धर्म या जन–धर्म बना दिया। यही नहीं, यज्ञादि कर्मों में सीमित रहने वाली वैष्णव भक्ति को भावात्मक रूप देकर सर्वसाधारण के लिए उसे सरल और सुलभ बनाने के साथ भक्ति को केवल अनुभूति का साधन घोषित किया।

आलवार सन्त बहुधा निम्न जातियों के होते थे। उनकी शिक्षा–दीक्षा भी अधूरी होती थी। किन्तु उनके भीतर चरित्र और हार्दिक गुणों का अद्‌भुत चमत्कार रहता था। शिक्षा, वंश और वैभव का अभिमान नहीं रहने के कारण, ये सन्त अत्यन्त विनीत हुआ करते थे और अपनी सर्व–साधन–हीनता को लेकर ये भगवान के चरणों में अपने को निवेदित कर देते थे। रामानुजाचार्य ने आगे चलकर जिसे प्रपत्ति (अर्थात् सब कुछ छोड़कर भगवान् की शरण में गिरने की भावना) की संज्ञा दी, सभी आलवारों के गीत उस भाव से ओत–प्रोत हैं। भक्ति को आलवारों ने जन–जीवन का ऐसा अभिन्न अंग बना दिया कि इस गये–बीते जमाने में भी दक्षिणापथ के लोगों में भक्ति की अद्‌भुत प्रधानता विद्यमान है। इनमें से बारह सन्त ऐसे हुए, जिनकी विशेष ख्याति हुई और जिनकी मूर्तियाँ दक्षिण के मन्दिरों में स्थापित मिलती हैं। ये सन्त भक्ति–विभोर जनता के हृदय–देव हो गये थे, इसलिए विष्णु के साथ इनकी भी पूजा आरम्भ हो गयी। यह बात लगभग स्वीकृत है कि बारह विशिष्ट आलवार सन्त ईसा की तीसरी सदी से लेकर नवीं सदी के बीच हुए हैं। दक्षिण के ये वैष्णव आलवार तीसरी–चौथी सदियों में तो नारायण की ही भक्ति

करते थे। बाद के दिनों में जब अवतारों की पूजा पर आए तो उन्होंने पहले वामन और आगे कृष्ण, बलराम एवं रामोपासना का मार्ग अपनाया। त्रावणकोर के कुलशेखर आलवार दाशरथि राम के भक्त थे। इन आलवार कवियों के तमिल भक्ति–पदों का सम्पादन पहले–पहल नाथमुनि ने 'प्रबन्धम्' नाम से किया जो नवीं सदी के उत्तरार्द्ध मे त्रिचनापल्ली के श्रीरंगम् में रहते थे। प्रबन्धम् में आलवारों के पद, मूल रूप में रखे गये थे। बाद में, वैष्णव विद्वानों ने उन पर टीकाएँ भी लिखीं। इस प्रकार, प्रबन्धम् भक्ति आन्दोलन का आदि ग्रन्थ बन गया। इन आलवार भक्तों के नाम हैं– १.पोयगै आलवार, २.भूतत्तालवार, ३.पेयालवार, ४.तरुमलिसई आलवार, ५.नम्मालवार, ६. मधुरकवि आलवार, ७.कुलशेखर आलवार ८.पेरियालवार ९.आंडाल, १०.तोंडरडीपोडी आलवार, ११.तिरुप्पाण आलवार, १२.तिरुमंगै आलवार।

भक्ति को जन–समूह तक पहुँचाने के लिए आलवार भक्तों ने पहली बार जन–भाषा तमिल में भक्तिगीत रचे। यह भक्तिभावना के विकास के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है। असल में, आलवार भक्तों का भक्ति–आन्दोलन यथार्थ में जन–आन्दोलन था। सामान्य कवियों की तरह अपने घरों में पड़े रहकर ये पद लिखने वाले नहीं थे; बल्कि, खुले क्षेत्र में घूम–घूमकर इन्होंने जन–साधारण के बीच भक्ति का प्रचार कर एक नवीन जन–जागरण के ऐसे वातावरण का सृजन किया, जिसमें भक्ति का स्वर सबसे ऊँचा था। भक्ति–आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले आलवार भक्तों ने स्वयं अपने जीवन–आदर्शों के बल पर वैष्णव–भक्ति के नवीन रूप को जनता के सम्मुख रखा। इसके चलते भक्ति पर अब केवल कुछ ही लोगों का अधिकार न होकर, सबका समान रूप से अधिकार हो गया। उन्होंने भक्तिभावना के उदार तत्त्वों के साथ संगीत का भी सहारा लेकर सार्वजनीन और सार्वभौमिक तो बना ही दिया, साथ–ही–साथ उसे गा–गाकर आत्मविभोर होने की अनुभूति की चीज भी बना दिया।

'प्रबन्धम्' की कविताएँ जनता की भक्ति–साधना की सीधी अभिव्यक्ति हैं और इनमें भक्त हृदय वाली सरलता, भाव–विह्वलता और भगवान की शरण में चले जाने की बातें हैं। रामधारी सिंह दिनकर ने तो 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्पष्ट रूप में अपना यह मत व्यक्त किया है कि "भागवत–पुराण ही भक्ति–आन्दोलन का मूल–ग्रंथ समझा जाता है। किन्तु हमारा अनुमान है कि इस आन्दोलन का मूल ग्रंथ भागवत नहीं प्रबन्धम् है।" दिनकर जी ने अपनी इस मान्यता का कारण यही बताया है कि "भागवत की रचना पाण्डित्य के स्तर पर की गयी है।" डॉ.मलिक मोहम्मद ने भी इसी तथ्य को इंगित किया है–

"वैदिक युग के कर्ममार्ग की अनुपयुक्तता और उपनिषद् युग के ज्ञान–मार्ग की दुरूहता के समक्ष परवर्ती युग के भक्ति–मार्ग की उपयुक्तता एवं सरसता ने बहुमत प्राप्त किया और भक्ति–साधना को लोकप्रिय बना दिया।" पृ.१३

दक्षिण के वैष्णव आचार्य और भक्ति का प्रसार :

आलवारों द्वारा प्रेरित होने वाला भक्ति–आन्दोलन जोर पकड़ रहा था कि आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के आविर्भाव ने पुनः प्राचीन युगीन समस्याओं को वैष्णवों के सामने उपस्थित किया। इस बार वैष्णवों से उनके साकार ब्रह्म को छीन लेने का प्रयत्न हुआ और इस अपहरण का आधार श्रुतियों को बनाया गया। शंकराचार्य के देशव्यापी प्रभाव को चुनौती देकर आलवारों से सुधार पाने वाले नवीन आकर्षक भक्ति–मार्ग को देश व्यापी बनाने के लिए आलवारोत्तर काल में वैष्णव आचार्यों ने, विशेषकर रामानुजाचार्य ने, आलवार भक्ति का (संस्कृत के माध्यम से) शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयत्न में अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने अपने–अपने क्षेत्र में भक्ति–मार्ग को प्रतिष्ठित कर उसे लोकप्रिय बना दिया।

आलवार सन्त रहस्यवादी और कवि थे। उनके उत्तराधिकारी वैष्णव आचार्य चिन्तक और दार्शनिक हुए। तमिल–प्रबन्धम् को सार्वजनिक पूजा में समाविष्ट करने का प्रथम श्रेय श्री नाथमुनि को है। उन्होंने ही तमिल–प्रबन्धम् को, वैष्णवों के यहाँ, वेद का दरजा दिलवाया। उनके पौत्र यामुनाचार्य ने पांचरात्र–पद्धति की प्रामाणिकता को स्थापित किया, शंकर के माया सिद्धान्त का खण्डन किया, जीवात्मा की अलग सत्ता का प्रतिपादन किया और प्रपत्ति के सिद्धान्त की घोषणा की। इस प्रकार, बारहवीं सदी के आरम्भ में, रामानुज (१०२७ से ११३७ ई.) ने जिस विशिष्टाद्वैत–दर्शन का महल खड़ा किया, उसकी नींव यामुनाचार्य (९१६ से १०४० ई.) ने ही डाली थी।

रामानुज के मुख्य ग्रन्थ तीन हैं, १. वेदार्थ–संग्रह, २. गीता की टीका और ३. वेदान्त–सूत्र का श्रीभाष्य। श्रीभाष्य में वेदान्त–सूत्रों की ईश्वरवादी व्याख्या करके उन्होंने वैष्णव धर्म या भक्ति का दर्शन तैयार किया। वेदान्त का ईश्वर, असल में, ईश्वर नहीं, ब्रह्म है जिसने संसार की रचना नहीं की, जो भक्तों की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देता, जिसे विश्व के प्रपंच से कोई मतलब नहीं, जो शुद्ध, बुद्ध, निराकार और निर्विकार है। किन्तु रामानुज ने इस ब्रह्म में ईश्वरत्व का आरोप किया, उसे भक्तों की प्रार्थना सुनने योग्य एवं विश्व–प्रपंच का कर्ता तथा उसका प्रहरी बना दिया। रामानुज की विशेषता यह भी है कि ईश्वरवाद पर से उन्होंने भक्ति का दर्शन प्रस्तुत किया और यह सिद्ध किया कि भक्ति की शिक्षा केवल तमिल–प्रबन्धम् से ही नहीं, प्रत्युत् प्रस्थानत्रयी (वेदान्त–सूत्र, उपनिषद् और गीता) से भी मिलती है। रामानुज वैदिक धर्म और आलवार, दोनों की परम्पराओं के प्रति आस्थावान थे और दोनों के तत्त्वों को एकाकार करके ही उन्होंने अपने मार्ग का प्रवर्तन किया। वेद का प्रतिपाद्य विषय कर्म था। उपनिषदों ने उसमें ज्ञान का पुट मिलाया और भक्ति जनता के स्तर से उठकर ऊपर पहुँची। किन्तु, इन तीनों का समन्वय गीता में किया गया। जो कार्य गीता ने किया था, बहुत–कुछ वही कार्य रामानुजाचार्य ने किया, किन्तु, इस भेद के साथ कि जहाँ गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म में किसी

एक के साथ कोई अनुचित पक्षपात नहीं था, वहाँ रामानुज ने तीनों में से भक्ति को खुलकर अप्रतिम प्रधानता दी। गीता की जड़ वेद और उपनिषद् में अर्थात् कर्म और ज्ञान में है। रामानुज का सारा अस्तित्व आलवारों के भक्ति–विह्वल पदों में गड़ा हुआ है।

रामानुज की पद्धति का मूलाधार वह दृष्टि है, जिससे वे ईश्वर को जीव और प्रकृति से एकाकार देखते हैं। उनकी कल्पना यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनों अनादि हैं, किन्तु जीव और प्रकृति, अनिवार्य रूप से, ईश्वर पर आश्रित हैं। जैसे, वस्तु से उसका गुण विभक्त नहीं किया जा सकता, जैसे विशेष्य से विशेषण का भिन्न होना असम्भव है, उसी प्रकार ईश्वर से जीव और प्रकृति भी अभिन्न हैं। इसी से रामानुज की पद्धति विशिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है। वह शंकर के अद्वैत मार्ग से भिन्न है, क्योंकि शंकर केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व मानते हैं, किन्तु रामानुज–मत में ईश्वर (ब्रह्म) के समान जीव और प्रकृति भी अनादि हैं।

आलवार सन्त जात–पाँत नहीं मानते थे, न वर्णाश्रम के विधि–निषेध के वे कायल थे। रामानुज ने आलवारों के इस मुक्त संस्कार को वर्णाश्रम के नियंत्रणों से कैसे मिलाया, यह भी देखने योग्य है। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को तो द्विजों के लिए विहित बताया, किन्तु, प्रपत्ति का द्वार सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। सामाजिक समता की दिशा में तत्कालीन ब्राह्मण जहाँ तक जा सकता था, रामानुज वहाँ तक जाकर रुके। उनके सम्प्रदाय ने लाखों शूद्रों और अन्त्यजों को अपने मार्ग में लिया, उन्हें वैष्णव–विश्वास से युक्त किया, उनके आचरण धर्मानुकूल बनाए और साथ ही, ब्राह्मणत्व के नियन्त्रणों की अवहेलना भी नहीं की।

दक्षिण की यह भक्तिधारा उत्तर भारत में पहुँचकर बहुत बेगवान हो गई। प्रपत्ति, शरणागति, आत्म–समर्पण और एकान्तनिष्ठा समन्वित इस भक्ति के प्रचार–प्रसार में अपनी साहित्यिक प्रतिभा से कबीर, सूरदास, तलसीदास मीरा आदि ने बड़ा योगदान किया है। इस आन्दोलन में इस्लामिक प्रभाव भी मलिक मोहम्मद जायसी आदि की रचनाओं से जुड़ा और कुछ अलग छटा इसकी भी है।

स्वामी रामानन्द

भक्ति–आन्दोलन में रामानन्द बड़े ही महत्त्व के आचार्य हुए हैं। रामोपासना का वास्तविक प्रवर्तन रामानन्द ने किया। रामानन्द का सम्प्रदाय रामावत–सम्प्रदाय कहलाता है जो विशिष्टाद्वैतवादी तो है, किन्तु उपासना वह विष्णु के बदले राम की करता है। उन्होंने रामोपासक वैरागियों का संगठन एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में किया और उस संगठन में प्रवेश पाने का अधिकार उन्होंने उन वैष्णवों को भी दिया जो जन्मना शूद्र अथवा मुसलमान थे। ऐसा लगता है कि रामानन्द के भीतर धर्म और समाज, दोनों को लेकर चिन्ता उत्पन्न हुई थी। रामानन्द का जन्म सन् १२९६ ई. में प्रयाग में हुआ था और उन्होंने काशी में श्री–सम्प्रदाय की दीक्षा स्वामी राघवानन्द से ली थी जो रामानुज–परम्परा की चौथी पीढ़ी में पड़ते

हैं। तीर्थ–यात्रा के क्रम में रामानन्द ने सारे भारत का भ्रमण किया था और दक्षिण में तो वे वर्षों रहे थे। राम–भक्ति पर श्रद्धा रामानन्द को दक्षिण में ही हुई और वहीं से वे राम–भक्ति का प्रसाद उत्तर वालों के लिए ले आए। राम–कथा पर प्रबन्ध भी हिन्दी में तो बाद में, पर तमिल में पहले ही लिखा गया था। जिस राम–भक्ति का प्रचार दक्षिण और उत्तर, दोनों ही भूभागों में हुआ, उसका आधार अध्यात्म–रामायण थी। पर यह ज्ञात नहीं है कि अध्यात्म–रामायण की रचना दक्षिण में हुई थी या उत्तर में। कभी–कभी यह अनुमान लगाया जाता है कि यह रामायण स्वयं रामानन्द स्वामी ने लिखी होगी। रामानन्द ने प्रस्थानत्रयी पर टीकाएँ भी लिखीं, जिनमें ब्रह्मसूत्र वाली टीका का नाम 'आनन्दभाष्य' है। इस भाष्य में शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार उन्होंने भी नहीं दिया है, क्योंकि वर्णाश्रम का बन्धन रामानन्द भी मानते थे। फिर भी, कोई बात थी जिसके कारण सभी जातियों के साधक उनके पास पहुँच जाते थे। उनके भीतर प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष था। शास्त्रों का भाष्य करते समय तो वे वर्णाश्रम के प्रतिबन्धों का खंडन नहीं कर पाते थे, पर उनके लिए यह भी मुश्किल बात थी कि किसी भक्त का निरादर वे सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म द्विज के वंश में नहीं हुआ है। इसी तथ्य को दिनकर जी ने यह कहा है कि "विचार से वे कठोर वर्णाश्रमी, किन्तु आचारों से दयालु सन्त थे।"

रामानन्द के इस व्यक्तित्व का एक तरह से दो धाराओं में विकास देखा जा सकता है। एक धारा उन भक्तों की बनी जो विशिष्टाद्वैत को मानते थे और जिनका विश्वास वर्णाश्रमी व्यवस्था में भी भरपूर था। तुलसीदास, नाभादास जैसे इसी कोटि के भक्त हैं। 'रामचरितमानस' इस धारा की सांस्कृतिक ऊँचाई का एक शिखर है और इसके रचनाकार तुलसीदास भक्तशिरोमणि के रूप में प्रतिष्ठित भी हैं। उत्तर भारत के मन–मस्तिष्क के निर्माण में इस कवि की बड़ी भूमिका है।

रामानन्द से ही कबीरदास वाली धारा का भी सम्बन्ध जुड़ता है; और इस पथ पर चलने वाले वर्णाश्रमी–व्यवस्था एवं अवतारवाद के विरुद्ध खड़े मिलते हैं। जाति–व्यवस्था को खरी–खोटी सुनाने में भी इस धारा वाले हिचके नहीं हैं। 'रामनाम' कबीर के लिए मंत्र जैसा तो है, लेकिन इनके राम दशरथ सुत नहीं हैं– 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।' राम–विषयक सारी धारणाओं को कबीर ने किनारे करते हुए अपनी नई रामनामी स्थापित की है; और इनका राम वस्तुतः अकाल, अजन्मा, अनाम और अरूप ही है। रामाश्रयी धारा का जो राम है, वही इस्लामी धारा में रहीम है; और कबीरदास जी का अगर माना जाय तो वही "साहब" है। नाम में इनके यहाँ बहुत कुछ नहीं है, जो भी है, तत्त्व में है। सिद्धसाधकों व नाथपंथी योगियों की जो धारा चली आ रही थी, उसका प्रभाव तो कबीर पर है ही, साथ–ही–साथ इस्लामी परम्परा एवं सूफी साधकों का प्रेमतत्त्व भी कबीर में है। 'साखी', 'सबद', 'रमैनी' को लोगों के बीच गा–गाकर कबीर और उनके अनुयायिओं ने कबीरपंथी भावना व साधु–समाज की नींव रख दी। रैदास, धर्मदास, नानक आदि इस कोटि में बड़े सन्त कवि हैं; और इस धारा का सम्बन्ध

काफी पहले के महाराष्ट्रीयन सन्तकवि नामदेव के साथ जुड़ता है; जो जाति के दरजी थे, उत्कृष्ट 'अभंग' रचयिता थे, और 'जाति पांति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के प्रतिमान–से थे।

कृष्ण–भक्ति की विशिष्ट धारा

वासुदेव की उपासना करने वाली भक्ति–धारा में बालगोपाल और कालान्तर में राधा की उपासना का भी पथ प्रशस्त हुआ। कुछ वैष्णवाचार्यों के दर्शन तथा विशेष अभिरुचि के कृष्णभक्तों के जीवन–व्यापार के चलते, बालगोपाल और राधा की प्रशस्ति एवं रूप–सृष्टि वाला फलक बहुत ही व्यापकता वाला बनता गया। तमिल–प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र–प्रदेश, मध्य व उत्तर भारत, बिहार, बंगाल तथा सुदूर असम भी इस प्रवाह में सराबोर रहा है। विष्णुस्वामी (सम्भवतः दसवीं शताब्दी) का रुद्र–सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य (११९४–११६२/११७२ ई.) का द्वैताद्वैत मत, तेरहवीं शती के मध्वाचार्य का द्वैतवादी मत, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु (सन् १४८५–१५३३ ई) की विशिष्ट शैली, असम के शंकरदेव का महापुरुषीय–सनप्रदाय और उत्तर या मध्यभारत के बल्लभाचार्य (१४७९–१५३० ई) का शुद्धाद्वैतवादी दर्शन भक्ति–आन्दोलन को वेगवान और विस्तार देने में बहुत महत्त्व वाला बना। जयदेव, विद्यापति, सूरदास, मीरा, रसखान जैसी रचनात्मक विभूतियों ने कृष्ण–भक्ति की जो झाँकी सामान्य जनता को दिखाई है, वह आकर्षक और मनभावन होने साथ ही अपने में डुबा लेने वाला भी है। भक्त–हृदय की मग्न हो जाने वाली वृत्तियाँ इस धारा में परिपुष्ट तो हुई ही, साथ–ही–साथ जनता भी इनके सानिध्य में पहुँचकर रंजित होती रही है। बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवादी दर्शन और गोसाईं बिट्ठलनाथ के 'अष्टछाप' वाली धारा में सूरदास के 'सूरसागर' की अपनी विशिष्ट महिमा है। इस धारा के भक्त अपनी दुनिया में डूबे रहने वाले रहे हैं।

सूफी रहस्यवादी और प्रेममार्गी भक्ति

सूफी सन्तों के प्रभाव से जिस भक्ति का भारतीय जीवन में प्रवेश हुआ, उसमें प्रेम की एक विशेष पद्धति प्रचलित मिलती है। इस पद्धति के अनुसार, आत्मा प्रेमी और परमात्मा प्रेमिका है। परमात्मा का रूप रहस्य तथा अद्वितीयता के आवरण में ही इस पद्धति में व्यंजित है। आत्मा को जगाने का काम कोई गुरु करता है। गुरु परमात्मा के रूप की झाँकी किसी नायिका में साधक को दिखाता है और जीव उसे पाने की राह में लग जाता है। अपने इस मार्ग की अनेक बाधाओं पर साधना की बदौलत जीव सफलता पा लेता है और नायिका से उसका विवाह भी सम्पन्न हो जाता है। मोह और दुर्भाव के चलते जीव को पुनः वियोग का दुःख झेलना पड़ता है। आत्मपरिष्कार की प्रक्रिया से अपनी नायिका से वह पुनः जुड़ भी जाता है। हिन्दी में मलिक मोहम्मद जायसी की कृति 'पदमावत' इस पद्धति की उत्कृष्ट रचना है। कुतुबन, मंझन, उस्मान आदि की प्रेममार्गी कहानियाँ भी इसी भक्ति–पद्धति की रचनाएँ हैं।

हैं। तीर्थ–यात्रा के क्रम में रामानन्द ने सारे भारत का भ्रमण किया था और दक्षिण में तो वे वर्षों रहे थे। राम–भक्ति पर श्रद्धा रामानन्द को दक्षिण में ही हुई और वहीं से वे राम–भक्ति का प्रसाद उत्तर वालों के लिए ले आए। राम–कथा पर प्रबन्ध भी हिन्दी में तो बाद में, पर तमिल में पहले ही लिखा गया था। जिस राम–भक्ति का प्रचार दक्षिण और उत्तर, दोनों ही भूभागों में हुआ, उसका आधार अध्यात्म–रामायण थी। पर यह ज्ञात नहीं है कि अध्यात्म–रामायण की रचना दक्षिण में हुई थी या उत्तर में। कभी–कभी यह अनुमान लगाया जाता है कि यह रामायण स्वयं रामानन्द स्वामी ने लिखी होगी। रामानन्द ने प्रस्थानत्रयी पर टीकाएँ भी लिखीं, जिनमें ब्रह्मसूत्र वाली टीका का नाम 'आनन्दभाष्य' है। इस भाष्य में शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार उन्होंने भी नहीं दिया है, क्योंकि वर्णाश्रम का बन्धन रामानन्द भी मानते थे। फिर भी, कोई बात थी जिसके कारण सभी जातियों के साधक उनके पास पहुँच जाते थे। उनके भीतर प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष था। शास्त्रों का भाष्य करते समय तो वे वर्णाश्रम के प्रतिबन्धों का खंडन नहीं कर पाते थे, पर उनके लिए यह भी मुश्किल बात थी कि किसी भक्त का निरादर वे सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म द्विज के वंश में नहीं हुआ है। इसी तथ्य को दिनकर जी ने यह कहा है कि "विचार से वे कठोर वर्णाश्रमी, किन्तु आचारों से दयालु सन्त थे।"

रामानन्द के इस व्यक्तित्व का एक तरह से दो धाराओं में विकास देखा जा सकता है। एक धारा उन भक्तों की बनी जो विशिष्टाद्वैत को मानते थे और जिनका विश्वास वर्णाश्रमी व्यवस्था में भी भरपूर था। तुलसीदास, नाभादास जैसे इसी कोटि के भक्त हैं। 'रामचरितमानस' इस धारा की सांस्कृतिक ऊँचाई का एक शिखर है और इसके रचनाकार तुलसीदास भक्तशिरोमणि के रूप में प्रतिष्ठित भी हैं। उत्तर भारत के मन–मस्तिष्क के निर्माण में इस कवि की बड़ी भूमिका है।

रामानन्द से ही कबीरदास वाली धारा का भी सम्बन्ध जुड़ता है; और इस पथ पर चलने वाले वर्णाश्रमी–व्यवस्था एवं अवतारवाद के विरुद्ध खड़े मिलते हैं। जाति–व्यवस्था को खरी–खोटी सुनाने में भी इस धारा वाले हिचके नहीं हैं। 'रामनाम' कबीर के लिए मंत्र जैसा तो है, लेकिन इनके राम दशरथ सुत नहीं हैं– 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।' राम–विषयक सारी धारणाओं को कबीर ने किनारे करते हुए अपनी नई रामनामी स्थापित की है; और इनका राम वस्तुतः अकाल, अजन्मा, अनाम और अरूप ही है। रामाश्रयी धारा का जो राम है, वही इस्लामी धारा में रहीम है; और कबीरदास जी का अगर माना जाय तो वही "साहब" है। नाम में इनके यहाँ बहुत कुछ नहीं है, जो भी है, तत्त्व में है। सिद्धसाधकों व नाथपंथी योगियों की जो धारा चली आ रही थी, उसका प्रभाव तो कबीर पर है ही, साथ–ही–साथ इस्लामी परम्परा एवं सूफी साधकों का प्रेमतत्त्व भी कबीर में है। 'साखी', 'सबद', 'रमैनी' को लोगों के बीच गा–गाकर कबीर और उनके अनुयायिओं ने कबीरपंथी भावना व साधु–समाज की नींव रख दी। रैदास, धर्मदास, नानक आदि इस कोटि में बड़े सन्त कवि हैं; और इस धारा का सम्बन्ध

काफी पहले के महाराष्ट्रीयन सन्तकवि नामदेव के साथ जुड़ता है; जो जाति के दरजी थे, उत्कृष्ट 'अभंग' रचयिता थे, और 'जाति पांति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के प्रतिमान–से थे।

कृष्ण–भक्ति की विशिष्ट धारा

वासुदेव की उपासना करने वाली भक्ति–धारा में बालगोपाल और कालान्तर में राधा की उपासना का भी पथ प्रशस्त हुआ। कुछ वैष्णवाचार्यों के दर्शन तथा विशेष अभिरुचि के कृष्णभक्तों के जीवन–व्यापार के चलते, बालगोपाल और राधा की प्रशस्ति एवं रूप–सृष्टि वाला फलक बहुत ही व्यापकता वाला बनता गया। तमिल–प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र–प्रदेश, मध्य व उत्तर भारत, बिहार, बंगाल तथा सुदूर असम भी इस प्रवाह में सराबोर रहा है। विष्णुस्वामी (सम्भवतः दसवीं शताब्दी) का रुद्र–सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य (१११४–११६२/११७२ ई.) का द्वैताद्वैत मत, तेरहवीं शती के मध्वाचार्य का द्वैतवादी मत, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु (सन् १४८५–१५३३ ई) की विशिष्ट शैली, असम के शंकरदेव का महापुरुषीय–समप्रदाय और उत्तर या मध्यभारत के बल्लभाचार्य (१४७९–१५३० ई) का शुद्धाद्वैतवादी दर्शन भक्ति–आन्दोलन को वेगवान और विस्तार देने में बहुत महत्त्व वाला बना। जयदेव, विद्यापति, सूरदास, मीरा, रसखान जैसी रचनात्मक विभूतियों ने कृष्ण–भक्ति की जो झाँकी सामान्य जनता को दिखाई है, वह आकर्षक और मनभावन होने साथ ही अपने में डुबा लेने वाला भी है। भक्त–हृदय की मग्न हो जाने वाली वृत्तियाँ इस धारा में परिपुष्ट तो हुई ही, साथ–ही–साथ जनता भी इनके सानिध्य में पहुँचकर रंजित होती रही है। बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवादी दर्शन और गोसाईं बिट्ठलनाथ के 'अष्टछाप' वाली धारा में सूरदास के 'सूरसागर' की अपनी विशिष्ट महिमा है। इस धारा के भक्त अपनी दुनिया में डूबे रहने वाले रहे हैं।

सूफी रहस्यवादी और प्रेममार्गी भक्ति

सूफी सन्तों के प्रभाव से जिस भक्ति का भारतीय जीवन में प्रवेश हुआ, उसमें प्रेम की एक विशेष पद्धति प्रचलित मिलती है। इस पद्धति के अनुसार, आत्मा प्रेमी और परमात्मा प्रेमिका है। परमात्मा का रूप रहस्य तथा अद्वितीयता के आवरण में ही इस पद्धति में व्यंजित है। आत्मा को जगाने का काम कोई गुरु करता है। गुरु परमात्मा के रूप की झाँकी किसी नायिका में साधक को दिखाता है और जीव उसे पाने की राह में लग जाता है। अपने इस मार्ग की अनेक बाधाओं पर साधना की बदौलत जीव सफलता पा लेता है और नायिका से उसका विवाह भी सम्पन्न हो जाता है। मोह और दुर्भाव के चलते जीव को पुनः वियोग का दुःख झेलना पड़ता है। आत्मपरिष्कार की प्रक्रिया से अपनी नायिका से वह पुनः जुड़ भी जाता है। हिन्दी में मलिक मोहम्मद जायसी की कृति 'पदमावत' इस पद्धति की उत्कृष्ट रचना है। कुतुबन, मंझन, उस्मान आदि की प्रेममार्गी कहानियाँ भी इसी भक्ति–पद्धति की रचनाएँ हैं।

शैव सम्प्रदाय और शक्ति उपासना

दक्षिण की वैष्णव भक्ति धारा की ही तरह और लगभग उसी समय शिव–भक्ति की परम्परा वहाँ के नायनमारों में प्रादुर्भूत हुई। जिस प्रकार आलवारों की भक्ति–विह्वल अनुभूतियों का दार्शनिक रूप विशिष्टाद्वैत है, उसी प्रकार शैव–सिद्धान्त भी नायनमार भक्तों की अनुभूतियों से दर्शन के स्तर पर पहुँचा है। नायनमारों में ६३ का नाम आता है और इनकी प्रतिमाएँ भी दक्षिण के शैव मन्दिरों में पूजी जाती हैं। जैसे नाथमुनि ने आलवार भक्तों के पदों का 'प्रबन्धम्' नाम से संकलन किया है, वैसे ही और लगभग उसी समय, शैवाचार्य नाम्बि–अन्दार–नम्बी ने शैव पदों का संकलन 'तिरुमरइ' नाम से किया जो एक प्रकार की पावन पुस्तक है। आलवारों के लिए जैसा महत्व विष्णु का है, वैसा ही शिव का महत्व नायनमारों के बीच है। भक्ति की इस धारा का प्रभाव प्रधानतः दक्षिण में ही रहा।

इस सम्प्रदाय में शिव सृष्टि के परम केन्द्र हैं। वे ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनादि सत्य हैं। इनकी कृपा से ही सृष्टि की पाँच प्रक्रियाएँ– रचना, पालन, विनाश, जीव को मोहाछन्न बनाना और फिर उसे मोह से मुक्त करना– अस्तित्व में हैं, जिससे यह जगत् प्रत्यक्ष है। अपनी शक्ति के माध्यम से ही शिव सब कुछ करते हैं। दिनकर जी ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' में बताया है कि "शैव सिद्धान्त, वस्तुतः, शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के बीच का मत है।"

अध्याय—8

भारतीय अंक पद्धति : वैदिक गणित एवं ज्यामिति

प्राचीन भारतीय विधाओं में गणित का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। गणित के क्षेत्र में भारतीय विचारकों का अप्रतिम योगदान स्वीकार किया जाता है। अन्य विज्ञानों की भाँति गणित भी प्राचीन भारतीय मनीषियों के चिन्तन, मनन तथा उसके व्यावहारिक प्रयोग का शास्त्र रहा है, जिसमें भारतीय बुद्धि का कौशल अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई देता है। वैदिक ऋषि—प्रज्ञा ने न केवल जीव एवं जगत् का सूक्ष्मावलोकन किया अपितु, अंक विधा की साधना कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय तत्वों यहाँ तक कि काल की गणना कर विश्व को अपनी विलक्षण देन से चमत्कृत किया। वस्तुतः गणित का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है, जहाँ संख्याओं और अंकगणित का स्पष्ट परिज्ञान परिलक्षित होता है। यजुर्वेद में एक से परार्ध (10^{12}) तक के संख्याओं के नामों का प्रयोग मिलता है। ये संख्यायें दस गुणत्तर या दशमलव पद्धति पर आधारित हैं। इसीलिए यह स्वीकार किया जाता है कि दशमलव पद्धति से संख्याओं की गणना की संकल्पना भारत की विश्व को अनूठी देन है। जिसका विशद् गणितीय प्रयोग आर्यभट्ट के 'आर्यभटीय' में मिलता है। अंक संख्या गणना की विविध वैज्ञानिक पद्धतियाँ, दशमलव पद्धति, शून्य जैसे मूर्धन्य आविष्कार भारतीय गणित के महत्तम अवदान है।

अन्य विज्ञानों में गणित का स्थान सर्वोपरि तथा स्वरूप विशुद्ध वैज्ञानिक है। गणित का शाब्दिक अर्थ है 'वह शास्त्र, जिसमें गणना की प्रधानता है'। वेदांग ज्योतिष में इसे सर्वोच्च स्थान पर रखा गया है। कहा गया है कि "जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ एवं नागों की मणियाँ (सबसे ऊँचे स्थान पर होती हैं) हैं, ठीक उसी प्रकार वेद शास्त्रों में गणित का सबसे ऊँचा स्थान है :

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेरांग शास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।।
(वेदांग ज्योतिष, श्लोक—4)

बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय, विनयपिटक, दिव्यावदान, मिलिन्दपह्नो तथा जैन ग्रन्थ अन्तगउदसाओ, भद्रवाहुकृत 'कल्पसूत्र' स्थानानांग सूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र आदि में गणित के प्राचीनतम उल्लेख तथा संख्याओं का प्रयोग मिलता है। जैन गणितज्ञ महावीर का तो यहाँ तक मत है कि बहुत अधिक प्रलाप से क्या लाभ है? इस चराचर जगत् में जो कुछ भी वस्तु है, वह सब गणित के बिना समझना असम्भव है।

बहुभि र्विप्रलापैः किम् त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किंचिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन बिना नहि।।

अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गणित—सार संग्रह' में महावीराचार्य ने भारतीय गणित को सर्वोपरि, सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वव्याप्त शास्त्र बतलाया है। उनके अनुसार गणित ही विज्ञान की उद्घाटिका है। भौतिक विज्ञान का आधार ही गणित है।

प्राचीन भारतीय हिन्दू जीवन का आधार गणित था। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार—नारद संवाद में नारद द्वारा पारित ब्रह्मविद्याओं में नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) और राशि विद्या (अंकगणित) को सम्मिलित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि गणित का ज्ञान अथवा कोई अन्य लौकिक ज्ञान (अपरा विद्या) आध्यात्मिक ज्ञान (परा—विद्या) में बाधक नहीं था।

प्राचीन भारतीय शिक्षण व्यवस्था में गणित का महत्वपूर्ण स्थान था। पाँच वर्ष से बारह वर्ष की अवस्था तक बालकों के अध्ययन के मुख्य विषय लेखा (लिपि, वर्णमाला, पठन), रूप (क्षेत्र गणित, कला) और गणना (अंकगणित) थे। इसीलिए कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में यह व्यवस्था दी थी कि 'चूड़ा कर्म के पश्चात् विद्यार्थी को लिपि (वर्ण माला) और संख्या (अंकगणित) सीखना चाहिए।' द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के कलिंग के राजा खारवेल ने हाथीगुंफा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने जीवन के आरम्भिक नौ वर्ष (16 से 25 वर्ष तक) लेख, रूप, गणना के अध्ययन में व्यतीत किये। इस प्रकार के उल्लेखों से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। वास्तविकता तो यह है कि जिस समय विश्व के अन्य देशों में गणित या अंक पद्धति का ज्ञान नगण्य था, उस समय भारत महान उपलब्धियाँ अर्जित कर चुका था। गणित की सभी विधाओं में भारत ही विश्व गुरु रहा है। इस विधा में भारत के गौरवास्पद स्थान से विश्व परिचित है।

ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी का अरब लेखक अलबेरूनी लिखता है कि 'मैंने अनेक भाषाओं में अंकों के नाम सीखे हैं, पर किसी जाति में हजार से आगे की संख्या के लिए मुझे कोई अंक नहीं मिला। हिन्दुओं में अट्ठारह अंकों तक की गणना के लिए नाम हैं, जिसमें अंतिम संख्या के लिए परार्ध है।' इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक शेष विश्व को एक हजार से अधिक की संख्या का ज्ञान नहीं था, जबकि ऋग्वेद एवं यजुर्वेद में परार्ध (10^{12}) तक की संख्या है। इसलिए यह प्रमाणित है कि ज्योतिष एवं गणित के तत्वों के आविष्कार में भारत अग्रणी रहा है। संख्याओं के आविष्कार, योग, प्रयोग, प्रचलन आदि में भारत की स्थिति सर्वोच्च रही है।

कुछ विद्वानो का विचार है कि ईसवी सन् के कुछ पूर्व तक हिन्दुओं की गणित विद्या का जागृति काल था। इसी अवधि में गणित शास्त्र का विस्तार हुआ। ज्योतिष स्वतन्त्र विषय हो गया और क्षेत्रगणित इसका अंग हो गया। आरम्भ में हिन्दू गणित के अन्तर्गत परिकर्म, व्यवहार, रज्जु ('रस्सी' अर्थात् क्षेत्रगणित), राशि (त्रैराशिक), कलासवर्णन (भिन्न सम्बन्धी परिकर्म), यावत्तावत् ('जितना उतना' अर्थात अज्ञात राशि का प्रयोग), वर्ग, घन, वर्गवर्ग (चतुर्घात) तथा विकल्प (क्रमचय और संचय) थे।

धीरे–धीरे गणित शब्द सामान्य गणित के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और मुद्रा तथा गणना इसकी परिधि से बाहर हो गये। गणित की लेखन सामग्री के आधार पर 'पाटीगणित' अथवा 'धूलीकर्म' शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। आगे चलकर अज्ञात राशि वाले भाग को बीजगणित कहा जाने लगा। इसका श्रेय ब्रह्मगुप्त को दिया जाता है, किन्तु अपने ग्रन्थ ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त में उन्होंने बीजगणित शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि इससे सम्बन्धित अध्याय 'कुट्टकाध्याय' कहलाता है। प्रथमतः श्रीधराचार्य (750 ई0) ने पाटीगणित और बीजगणित को पृथक् माना है। बीजगणित को भारत में अव्यक्त गणित कहा जाता था। बीजगणित को अरब विद्वान अब ख्वारिज्म ने नौवी शती ई0 में भारत आकर सीखा अब यह योरप में गया। इसी प्रकार रेखागणित का भी प्रारम्भ सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। यहीं से रेखागणित के मूल सूत्र योरप में पहुँचकर विश्वविख्यात हुए। बौधायन का शुल्वाज्ञ रेखागणित, त्रिकोणमिति तथा अन्य ज्यामितियीय गणित के आधार हैं। शुल्ब सूत्रों में यज्ञ वेदियों के बनाने के ज्यामितीय सूत्र उल्लिखित हैं। यज्ञीय वेदियों वर्गाकार, अर्द्धवृत्ताकर, त्रिभुजाकार, पंचभुजाकर आदि तथा पक्षियों के आकार (श्येनचिति) के होते थे। इनकी रचना में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि सभी यज्ञवेदियों का क्षेत्रफल मानक वेदी के बराबर हो। पाइथागोरस के प्रसिद्ध प्रमेय के पूर्व ही बौधायन ने इसका आविष्कार कर लिया था। बौधायन का प्रमेय बस^2 = अब^2+अस^2 था। इसे ही पाइथागोरस प्रमेय नाम से जाना जाता है।

भारतीय गणित, ज्योतिष तथा अंकपद्धति के नवीन आविष्कार तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भारतीय विद्वान सिद्धता को प्राप्त थे। बौधायन, कात्यायन तथा मनु के शुल्बसूत्रों के पश्चात् परवर्ती शास्त्रकारों ने अनेक गणितीय ग्रन्थों की रचनाएँ कीं, जिनमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार हैं–

आर्यभट्ट कृत 'आर्यभटीयम्' (499 ई0), बाराहमीहिर कृत 'बृहत्संहिता' एवं 'वृहज्जातक' (550 ई0), पंचसिद्धान्तिका, ब्रह्मगुप्त कृत 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' तथा 'खण्ड खाद्यक' (628 ई0), भास्कर प्रथम (629 ई0), कृत 'महाभास्करीय एवं लघुभास्करीय', श्रीधराचार्य कृत (750 ई0) 'त्रिशंतिका', महावीराचार्य (750 ई0) कृत 'गणित–सार संग्रह', आर्यभट्ट द्वितीय (950 ई0) कृत 'महासिद्धान्त', श्रीपति कृत (1039ई0) 'सिद्धान्त शेखर', भास्कर द्वितीय (1150ई0) कृत 'करण कुतूहल', 'सिद्धान्त शिरोमणि', 'लीलावती', 'बीजगणित', श्रीपति कृति 'गणित–तिलक' (1039ई0), नारायण (1356ई0) कृत 'गणित कौमुदी', नीलकंठ कृत (1500ई0) 'तन्त्र संग्रह', गणेशदैवज्ञ कृत 'ग्रहलाघव' (1545ई0), दुठिराज कृत (1558 ई0) 'गणित मंजरी', पुंतुमन सोमयाजि कृत, 'करण–पद्धति' (1431ई0), ज्ञानराज कृत 'बीजगणित' (1503ई0) आदि के अतिरिक्त 'हस्तलिखित पोथियाँ तथा जैन एवं बौद्ध धर्मों के प्राचीनतम साहित्य हैं, जिनमें भारतीय गणित की अमूल्य निधियाँ संरक्षित हैं। वास्तव में भारत में गणित विज्ञान अध्यात्म का साधन रहा है। इसीलिए इसकी सूक्ष्मतम विधियाँ ज्ञात थीं। गणित का जन्मदाता भारत ही है, यह विश्व में मान्य है।

1. अंक पद्धति एवं अंक संकेत :

भारतीय गणित विद्या का आधार अंक पद्धति है। क्योंकि गणित की प्रकृति गणनात्मक है और गणना का आधार अंक या संकेत है। एक वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित अंक पद्धति ही गणित की आवश्यकता है जो भारत में प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। वर्तमान विश्व मूलतः भारतीय अंक पद्धति का ही प्रयोग करता है तथा इसकी वैज्ञानिकता को स्वीकार करता है।

भारतीय अंक पद्धति की यह विशेषता रही है कि इसमें गणना का आधार दस (10) रहा है। वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में इसके उल्लेख भरे पड़े हैं। भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि चिन्तकों ने प्रारम्भिक काल से ही बड़े–बड़े अंकों को सूचित करने वाली संख्याओं का प्रयोग किया। प्राचीन यूनानियों की सबसे बड़ी गणना 'मिरियड' का माप 10^4 था, जबकि रोम के लोगों के पास 'मिले' नामक गणना 10^3 को व्यक्त करती थी। इसके विपरीत भारतीयों के पास लगभग 18 अंकों तक की गणना वाली संख्यायें ज्ञात थीं। यजुर्वेद में एक, दस, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त तथा परार्ध नामक अंक–संज्ञाओं का उल्लेख है। अर्थात् 10^{12} तक का मान ज्ञात था। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी तथा काठष्क संहिताओं में कुछ अन्तर के साथ संख्याओं का मान वर्णित है। सांख्यान श्रौतसूत्र में न्युबुर्द के बाद निघर्ब, समुद्र, सलिल, अन्त्य, अनन्त (10^{13}) आदि संज्ञाएं हैं। भारतीय अंकगणना की यह विशेषता रही है कि ये प्रत्येक आगे वाली संख्या अपने पिछले वाली संख्या से दस गुनी (दसगुणोत्तर) अधिक होती है।

बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में गणितज्ञ अर्जुन और गौतम (बोधिसत्व) के संवाद में शतगुणोत्तर संज्ञाओं का वर्णन है। इसी प्रकार कात्यायन कृत पालि व्याकरण में दसगुणोत्तर एवं शतगुणोत्तर संज्ञाओं की एक मनोरंजक सूची मिलती है।

अंक पद्धति के अन्तर्गत अंकों के विविध मान भारतीयों को ज्ञात थे। जैन आगम अनुयोग द्वारा सूत्र में भी रोचक विवरण मिलते हैं। आर्यभट्ट, श्रीधर, महावीर, नारायण आदि ने अंक स्थानों का प्रयोग किया है। आर्यभट्ट (499 ई0) ने जो गुप्तकालीन महान गणितज्ञ थे, ने अंक संज्ञा के स्थान पर अंक स्थान का सर्वप्रथम प्रयोग किया है। तदनुसार– एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार) अतुत (दस हजार), नियुत (लाख), प्रयुत (दस लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), और वृन्द (अरब) स्थानों में से प्रत्येक अपने पीछे से दस गुना बड़ा है। यह भारतीय अंकों की विशेषता रही है जो विश्व में कोई जोड़ नहीं है। जैन ग्रथ अनुयोगद्वार सूत्र में अन्तिम इकाई का मान 10^{140} है। संस्कृत साहित्य में पद्य–रचना की सुविधा की दृष्टि से कई प्रकार के अर्थ संकेतों, युक्तियों का सहारा लिया गया है। बड़ी संख्याओं के लिए 'अक्षरांक' एवं 'शब्दांक' नामों का प्रयोग किया जाता था।

भारतीय अंक संकेतों के विकास का एक व्यवस्थित क्रम प्राचीन काल में विभिन्न युगों के पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त अवशेषों तथा लिपियों में मिलता है। यह स्वीकार किया जाता है कि अंक संकेतों का विकास तथा आविष्कार लेखन–क्रिया के आरम्भ होने कुछ समय बाद हुआ। प्राचीन मनीषियों ने ब्राह्मी को ही भारत की प्राचीन लिपि स्वीकार करते हुए इसे विश्व की अन्य लिपियों की जननी माना है। इस प्रकार लेखन के क्षेत्र में भी भारत ने विश्व को वर्णमाला दी।

सिन्धु सभ्यता के पुरास्थलों मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त लगभग 2000 मुहरों पर लिपि का संकेत है। इन पर प्राप्त लकीरों से शोधकर्ताओं ने 1 से 13 तक के अंकों की पहचान की है। इसी प्रकार जो माप के बाट (बटखरे) प्राप्त हुए हैं उनका अनुपात 1, 2, 4, 8, 16, 32, 64, 160, 320, 640, 1600, 3200 तथा 8000 माना गया है, जिसे ज्ञात होता है कि माप–तौल में 16 के अनुपात का विशेष महत्व था।

इसी प्रकार भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र से प्राप्त तथा तक्षशिला विश्वविद्यालय के किसी आचार्य द्वारा उद्भूत खरोष्ठी लिपि जो मौर्यकालीन है में निम्न अंक सूत्रक चिन्ह पाये गये हैं। खरोष्ठी दायें से बाये लिखी जाने वाली लिपि थी।

1 (𐨑), 2 (𐨑𐨑), 4 (𐨑𐨑𐨑𐨑), 5 (𐨑𐨑𐨑𐨑𐨑)

इसी क्रम में प्रथम शताब्दी ई0पू0 से द्वितीय शताब्दी ईस्वी के अभिलेखों में शक, पार्थियन एवं कुषाण शासकों ने निशानों के माध्यम से अंकों का प्रयोग किया है।

भारत की प्राचीनतम् लिपि ब्राह्मी है, जिसका परिवर्धित रूप देवनागरी है। यह बायें से दायें लिखी जाती थी जैसा कि आज भी प्रचलित है। यह समूचे भारत की लिपि थी। इसमें बड़ी–बड़ी संख्याओं का प्रयोग है। इसमें 1, 4 से 9 और 10, 20, 30, 40, 50, 60, 70, 80, 90, 100, 200, 300 ..... 1000, 2000 इत्यादि प्रत्येक संख्या के लिए अलग–अलग संकेत हैं। लिपि के विशेषज्ञों ने ब्राह्मी अंकों के आविष्कार का समय 1000 ई0पू0 से 600 ई0पू0 तक माना है।

प्राचीन भारतीय अंक पद्धति वास्तव में दशमलव स्थान–मान संकेत है। इस पद्धति में दस चिन्ह हैं जो एक से लेकर नौ तक संख्याओं तथा शून्य को सूचित करते हैं, उन्हें अंक कहा जाता है। स्थान–माप सिद्धान्त का प्रयोग करके सभी संख्याओं को सरलता से लिखने के लिए ये दश अंक पर्याप्त हैं। यही पद्धति विश्व में प्रचलित है। भारतीय अंक पद्धति में शून्य और स्थान–मान विलक्षण हैं। शून्य की महत्ता के सम्बन्ध में प्रोफेसर हैल्सटेड (ऑन दि फाउण्डेशन एण्ड टेक्नीक ऑफ अरिथमेटिक, जी0बी0 हैल्सटेड, शिकागो, 1912) लिखते हैं कि "शून्य के आविष्कार के महत्व की कमी भी अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। निरर्थक शून्य को केवल स्थान, संज्ञा, आकृति एवं संकेत ही नहीं बल्कि एक उपयोगी शक्ति प्रदान करना, हिन्दू जाति की, जहाँ से इसकी उत्पत्ति हुई है, एक विशेषता है। शून्य का वर्तमान

आकार '0' प्राचीन मनीषी पिंगल ऋषि ने 200 ई0पू0 में अपने छन्द सूत्र में किया है। यह शून्य निर्वाण को विद्युत शक्ति में परिवर्तित करने के सदृश है। गणित सम्बन्धी कोई भी एक आविष्कार ज्ञान एवं शक्ति को आगे बढ़ाने में इतना प्रबल नहीं सिद्ध हुआ है।" (डॉ0 बिभूति नारायण दत्त एवं डॉ0 अवधेश नारायण सिंह द्वारा लिखित 'हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास से उद्धृत)।

अमेरिकी गणितज्ञ प्रो0 गिन्सवर्ग ने अपने एक लेख (न्यू लाइट ऑन मैथेमिक्स) में कहा है कि 'अंकों का ज्ञान भारत से मिला। 770 ई0 में कैड नामक विद्वान भारत से लेकर अरब गया, वहाँ उनके द्वारा ये अंक पहुँचे, वहाँ से 11वीं शती ई0 में योरप पहुँचे। योरप में इन्हें अरेबिक न्यूमास' कहते हैं और अरब में इसे 'हिन्दसा' कहते हैं। इस प्रकार भारतीय अंक पद्धति सम्पूर्ण विश्व में गयी।

भारतीय अंक पद्धति में दो पद्धतियाँ विलक्षण हैं– 'शब्दांक पद्धति' और 'अक्षरांक पद्धति'। वेदांग ज्योतिष, पिंगल छन्दसूत्र, भाटोत्पल संहिता, पोलिश सिद्धान्त तथा ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त नामक ग्रन्थों में इनके प्रयोग हैं। इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में शब्दों में भी अंक संकेतों का प्रयोग होता था। ऐसे शब्दांकों का विकास दाशमिक अंक पद्धति के आविष्कार के बाद ही हुआ होगा। उदाहरणार्थ–वेदांग ज्योतिष के अनुसार 1 के लिए रूप, 4 के लिए अज, 8 के लिए गुण, 12 के लिए युग, 26 के लिए भसमूह का प्रयोग है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी हैं।

अक्षरांक पद्धति के अन्तर्गत वर्णमाला के अक्षरों को संख्या मान लिया जाता है। इसीलिए ये 'अक्षरांक' या 'वर्णांक' कहलाते हैं। पाणिनि के सूत्रों में अ (1), इ (2), उ (3) जैसे अक्षर मान हैं। आर्यभटट् ने नवीन अक्षरांक पद्धति का सूत्र इस प्रकार दिया है–

वर्णाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङाद्यौ यः।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा।।

अर्थात् वर्गाक्षर जिनका आदि 'क' है, वर्ग स्थानों में (प्रयुक्त किये गये हैं) और अवर्गाशर (जिसका आदि 'य' है) अवर्गस्थानों में (प्रयुक्त किये गये हैं) अर्थात् ङमो (= ङ + म मिलकर 5+25) का मान य (30) का होता है। नौ स्वर, शून्यों के (वर्ग और अवर्ग स्थान वाले) नौ जोड़ों के लिए (प्रयुक्त किये गये हैं)। यही (क्रिया) नौ (वर्ग और अवर्ग स्थानों) के बाद भी (प्रयुक्त की जा सकती है)।। यह नियम से स्वर का मान शतगुणोत्तर हो जाता है। जैसे– अ का मान 1, इ का 100, उ का 10000 औ का 10^{16} है। क से म तक व्यंजन 1 से 25 तक की संख्याओं को व्यक्त करते हैं। ये 30, र 40, ल 50, व 60, श 70, ष 80, स 90, ह 100 को व्यक्त करते हैं। व्यंजन के साथ स्वर मिलने पर दोनों का गुणा होता है। जैसे कु =क × उ = 1 × 10000 = 10000। संयुक्ताक्षर में स्वर होने पर स्वर का गुणा प्रत्येक अक्षर से होता है। जैसे ङम = (ङ × अ) + (म+अ) = (5 × 1) + (25 × 1) =30।

यद्यपि यह अक्षरांक पद्धति जटिल थी, किन्तु बाद में आर्यभटट द्वितीय ने सरल कटपयादि पद्धति का आविष्कार कर नवीन अंक मान दिया। इस प्रकार प्राचीन भारतीय हिन्दू अंक–पद्धति विशुद्ध वैज्ञानिक तथा गणित शास्त्र का प्राण है। योरप की सबसे पुरानी गणित की पुस्तक 'क्रोडेक्स विजिलेन्स' जो कि स्पेन की राजधानी मेन्ड्रीड के संग्रहालय में सुरक्षित है में लिखा है कि–

"गणना के चिन्हों (अंकों) से हमें अनुभव होता है कि प्राचीन हिन्दुओं की बुद्धि बड़ी पैनी थी तथा अन्य दो गणना व ज्यामिति तथा अन्य विज्ञानों में हम उनसे बहुत पीछे थे। यह उनके नौ अंकों से प्रमाणित हो जाता है, जिससे जिनकी सहायता से कोई भी संख्या लिखी जा सकती है।" वस्तुतः नौ अंक और शून्य के संयोग से अनन्त गणनायें करने की सामर्थ्य और विश्व के वैज्ञानिक विकास में भूमिका को वर्तमान युग के वैज्ञानिक लाप्लस तथा आइन्स्टीन ने भी युक्त कंठ से प्रशंसा की है। इस प्रकार भारतीय गणित शास्त्र तथा अंक पद्धति ने जहाँ विश्व को गणनात्मक विज्ञान दिया, वहीं यह भारत का राष्ट्रीय गौरव बना हुआ है।

वैदिक गणित :

वैदिक वाङमय की प्रभूत मंत्र राशि में वैदिक ऋषियों की विलक्षण गणितीय संकल्पना तथा गणना पद्धति का रहस्य छिपा है। इसका प्रमाण अंक पद्धति का वैदिक वाङमय में बहुशः उल्लेख है। वास्तव में हिन्दू गणित शास्त्र का मूल स्रोत वेद ही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, वैदिक संहिताओं, वेदांग आदि में अंक गणना की पद्धति के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। वैदिक गणित के आधार पर आगे चलकर बौधायन, आपस्तम्ब, मनु, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, लल्ल, आदि ने पृथक् गणितीय ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित किया। एक, द्वि, त्रि, चतुः, पन्च, षट्, सप्त, अष्ट, नव, दश इत्यादि संज्ञाएं वैदिक काल से ही प्रचलित हैं। गुणाकर मूले (भारतीय अंक पद्धति की कहानी) में भारतीय अंकों की प्राचीनता वैदिक देवताओं की प्राचीनता के समान माना है।

जैसा कि पूर्व में वर्णित है कि वैदिक गणना पद्धति दस आधारित रही है। 'सहस्रां सर्वो अयुतं च साकम्' में हजार के बाद अयुत का प्रयोग भी दस आधारी पद्धति को पुष्ट करता है।अनेक उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रमाणित है कि संख्याओं का क्रमिक बोध व योग वैदिक युग में प्रचलित था। वैदिक ऋषि बड़ी–बड़ी संख्याओं से परिचित हो चुके थे। ऋग्वेद में जहाँ सबसे बड़ी संख्या 60099 है वहीं यजुर्वेद में यह बढ़कर परार्ध (दस खरब) हो गयी। ऋग्वेद में निन्यानबे के लिए 'नवति नव (नब्बे और नौ), 'नवसांक नवति' (नब्बे के साथ नौ) तथा यजुर्वेद में उन्नीस के लिए नवदश (नौ और दस) शब्द का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार घटो की पद्धति में उन्नीस को 'एकोनविंशति' (बीस में एक कम), उन्नतीस को 'एकोनन्निशत्' (तीस में एक कम) लिखते थे। वेदांगों में तो गणितीय संक्रियाओं तथा प्रमेयों का विवेचन मिलता है। शुल्ब सूत्रों में तो वर्ग चतुर्भुज, वृत्त $\sqrt{2}$ का मान निकालने की अनेक

विधियाँ तथा समीकरण दिये हैं। समकोण, त्रिभुज के बारे में ऐसा ही प्रयोग बहुत बाद में यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस ने किया।

वैदिक गणित की विशेषतायें :

वैदिक गणित वर्तमान गणितीय पद्धतियों में सर्वाधिक लोकप्रियता को प्राप्त कर रहा है। गोवर्धन मठ, पुरी के शंकराचार्य जगद्गुरु श्री भारतीकृष्ण तीर्थ जी ने (1884–1960 ई0) वैदिक गणित या वेदों के सोलह गणितीय सूत्र नामक ग्रन्थ लिखा था। 'वैदिक मैथमेटिक्स' नामक यह पुस्तक सर्वप्रथम 1965 में वाराणसी से प्रकाशित हुई थी। बाद में डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका सम्पादन कर व्यवस्थित प्रकाशन किया। इसमें वैदिक गणित अथवा वेदों से प्राप्त सोलह गणितीय सूत्र दिये गये हैं। इसमें अनेक संदर्भों से यह प्रमाणित किया गया है कि आधुनिक जटिल एवं उबाऊ विधि की तुला में वैदिक गणित की विधियाँ जैसे– योग, गुणा, भाग आदि काफी रोचक एवं सरल है। वैदिक गणित बोझिल नहीं लगता है बल्कि खेल–खेल में छात्रों में गणित का ज्ञान तथा विधियों को समझाया जा सकता है। स्वामी श्री भारतीकृष्ण तीर्थ ने वेदों से प्राप्त सोलह गणितीय सूत्रों का विवरण इस प्रकार दिया है–

	सूत्र	उप सूत्र अथवा उपप्रमेय
1.	एकाधिकेन पूर्वेण	आनुरुप्येण
2.	निखिलं नवतश्चरमं दशत	शिष्यते शेषसंज्ञः
3.	ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्	आधमाद्येनान्त्यमन्त्येन
4.	परावर्त्य योजयेत्	केवलैः सप्तकं गुण्यात्
5.	शून्यं साम्यसमुच्चये	वेष्टनम्
6.	(आनुरूप्ये) शून्यमन्यत्	यावदूनं तावदूनम्
7.	संकलनव्यकलनाभ्याम्	यावदूनं तावदूनीकृत्य वर्गं च योजयेत्
8.	पूरणापूरणाभ्याम्	अन्त्ययोर्दशकेऽपि
9.	चलनक्लनाभ्याम्	अन्त्ययोरेव
10.	यावदूनम्	समुच्चयगुणितः
11.	व्यष्टिसमष्टि	लोपनस्थाप्नाभ्याम्
12.	शेषाण्इकेन चरमेण	विलोकनम्
13.	सोपान्त्यद्वयमन्त्यम्	गुणितसमुच्चयः समुच्चयगुणितः
14.	एकन्यूनेन पूर्वेण	
15.	गुणित समुच्चयः	
16.	गुणक समुच्चयः	

वैदिक गणित के उपर्युक्त सूत्रों को अनेक भव्य दृष्टांतों से स्पष्ट किया गया है। उदाहरणार्थ–

(क) गुणा – आधुनिक विधि

```
   99
 x 98
------
  792
 891
------
9702
```

वैदिक विधि

```
  99 – 01
x 98 – 02
---------
  97 / 02
```

इसी प्रकार,

```
997 – 003
998 – 002
995 / 006
```

```
   21
x  22
-----
  462
```

$$\begin{array}{rl} & x^2 + 2x + 3 \\ \times & 2x^2 + 3x + 4 \\ \hline & 2x^4 + 7x^3 + 16x^2 + 17x + 12 \end{array}$$

(ख) भाग : 1 / 19 का मान ज्ञात करने की विधि या किसी भिन्न का मान ज्ञात करने की अनेक विधियाँ वैदिक गणित से सरलतम हैं–

आधुनिक विधि

```
      .052631 .....
19 ) 100
       95
      ---
        50
        38
       ---
        120
        114
       ----
          60
          57
         ---
          30
          11
          ..
```

वैदिक विधि में इसका मान एक पंक्ति में लिखा जायेगा–

1 / 19 = .052631578947368421

(इसकी अनेक विधियों का सविस्तार वर्णन किया गया है)।

इस प्रकार गणित शास्त्र को विकसित करने में वैदिक गणित का महान योगदान रहा है। इसमें अनन्त की गणना करने का सामर्थ्य है। गणित में कुलकों को हम अनन्तवर्ग (Infinite classes) कहते हैं। जैसे किसी भी कुलक में पदों की संख्या अन्तहीन (Endless) होती है। हम किसी भी शान्त कुलक के विषय में कह सकते हैं कि उनमें कितने पद हैं। किन्तु किसी भी अनन्त कुलक (Finite Set) के विषय में इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता कि उक्त कुलक में कितने पद हैं? दो अनन्त वर्गों की तुलना करना भी सरल नहीं है। यदि हम संक्षिप्त भाषा का प्रयोग करें तो कहेंगे कि अनन्त में से अनन्त निकालने पर शेष भी अनन्त ही रहता है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् के शांतिमंत्र में कहा गया है कि–

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदत्त्यते।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमैवावाशिष्यते।।

अर्थात् पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति तथा पूर्ण में से पूर्ण घटाने पर पूर्ण ही शेष रहता है। जो गुण इस पूर्ण की व्याख्या में है वही शून्य में भी है। अतः भारतीय परम्परा में महापुरुष दोनों ही प्रकार के हैं जो पूर्ण मानते हैं, जो शून्य मानते हैं। इस प्रकार भारत में गणित अध्यात्म का साधन रहा है। गणित का जन्म भारत में हुआ था, इसे विश्व भी स्वीकार करता है। 'दीपज्योति' के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है कि यदि एक दीपक से हजार दीपक जला दिये जॉय तो भी उस दीपक की ज्योति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इस प्रकार वैदिक गणित विश्व को ज्योति है।

ज्यामिति :

गणित विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग ज्यामिति है। इसका आविष्कारक भी भारत ही रहा है। रेखागणित भारतीय ऋषियों की विलक्षण देन है। भारत से ही यह विज्ञान योरप गया। सिन्धु सभ्यता के चित्रों में इसका प्रयोग देखा जा सकता है। भारत में इसका स्रोत वैदिक साहित्य रहा है। यजुर्वेद की सम्पूर्ण प्रक्रिया ज्यामितीय रही है। इसीलिए शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदियों के निर्माण के प्रसंग में सम्पूर्ण ज्यामितीय आकारों तथा मान आदि का वैज्ञानिक वर्णन मिल जाता है। विश्व में ज्योमितीय गणित का यह प्राचीनतम उल्लेख है। यज्ञवेदियों के निर्माण के प्रसंग में त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्त आदि का निश्चित परिमाण के अनुसार लेखन आवश्यक होता था। इसमें रेखागणित के अनेक प्रमेय प्रतिपादित किये गये हैं, जिसमें परवर्ती पाइथागोरस का भी प्रमेय है। साथ ही इसमें वृत्त एवं व्यास के अनुपात के रूप में पाई (π) का संज्ञान भी दिया गया है।

वास्तव में वैदिक यज्ञकुण्डों के निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया ज्यामितीय थी। इसीलिए ज्यामिति की सम्पूर्ण विधियाँ उससे उद्भूत हैं। बौधायन, कात्यायन, आपस्तम्ब आदि इस ज्यामितीय गणित के आरम्भिक आचार्य रहे हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारत में ज्यामिति का बहुआयामी विकास था। कीबो ने लिखा है कि यूनानी गणितवेत्ता पाइथागोरस (540 ई०पू०) के नाम से विख्यात प्रमेय

भारतीयों को पहले से ही ज्ञात था। वेदांग ज्योतिष इसका प्रमाण है। जैन ग्रन्थ सूर्य प्रज्ञप्ति (लगभग 500 ई0पू0) में दीर्घवृत्त का उल्लेख है। भारतीयों को यह ज्ञान मिनमेक्स (350ई0पू0) के काफी पहले हो चुका था। आर्यभटट ने ज्या निकालने की विधि के साथ ही ज्या की तालिका भी निर्मित की है। इसीलिए यह सर्वमान्य है कि आधुनिक त्रिकोणमिति आर्यभटट की विधियों पर आधारित है न कि यूनानी गणित के। ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' में शंकुच्छायादि ज्ञानाध्याय तथा भास्कराचार्य की 'लीलावती' में त्रिकोणमिति की सम्पूर्ण परिकल्पना, प्रयोग तथा दूरियों की माप का विधान है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि ज्यामितीय गणित में भारत विश्व का गुरु रहा है। भारतीय तन्त्र साधना, वास्तु विज्ञान आदि में इसका दीर्घकालिक प्रयोग स्वतः सिद्ध करता है। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय अंक पद्धति की विलक्षणता, वैज्ञानिकता तथा विशेषज्ञता से विश्व परिचित है।

अध्याय–9

प्राचीन भारत में विज्ञान

(धातु विज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, खगोल एवं ज्योतिष)

भारत के राष्ट्रीय गौरव का एक महत्वपूर्ण पक्ष प्राचीन भारत में विज्ञान की उज्ज्वल परम्परा रही है। प्राचीन भारतीय विज्ञान तथा वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति का रोचक इतिहास भारतीय साहित्य में सुरक्षित है। प्राचीन भारतीय मनीषी ज्ञान और विज्ञान दोनों ही पक्षों के गहन विचारक थे। जैसा कि अमरसिंह विरचित अमरकोष में कहा गया है कि "मोक्षेधीर्ज्ञानम् अन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयो" अर्थात् मोक्ष विषयक बुद्धि ज्ञान है, जबकि शिल्प और शास्त्र विषयक बुद्धि विज्ञान है। प्राचीन भारतीय विज्ञान की यह परिभाषा आधुनिक परिभाषा से मेल खाती है। इस अवधारणा के अनुसार व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र, शिल्पशास्त्र, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा आदि प्राचीन विज्ञान के प्रमुख विभाग थे। इसके अतिरिक्त कृषि, वनस्पति, पशु, खनिज, ऋतु आदि से सम्बन्धित विज्ञान भी प्रचलित थे। वैदिक वाङ्मय, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा वराहमिहिर की वृहत्संहिता और बाद में विज्ञान की प्रत्येक शाखा पर लिखे गये ग्रन्थों से प्राचीन भारतीय विज्ञान के गौरवास्पद स्वरूप का परिज्ञान होता है। वैज्ञानिक दृष्टि, ज्ञान के प्रति परीक्षात्मक और प्रयोगात्मक दृष्टि है। परीक्षा एवं प्रयोग दोनों ही स्तरों पर प्राचीन भारतीयों की वैज्ञानिक प्रगति आज पाश्चात्य जगत के लिए आश्चर्य का विषय बना हुआ है। धातु, रसायन, चिकित्सा, खगोल, ज्योतिष आदि का गौरवपूर्ण इतिहास प्राचीन भारत के विज्ञान का उल्लेखनीय पक्ष रहा है। वस्तुतः भारतीय विज्ञान का मूल वेदों में सुरक्षित है। यहाँ कतिपय महत्वपूर्ण वैज्ञानिक विधाओं का प्राचीन भारतीय पृष्ठभूमि में विवरण प्रस्तुत है।

(1) धातु विज्ञान :

मानवीय सभ्यता के विकास में धातुओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। धातुओं का महत्व इस बात से भी प्रमाणित है कि धातुओं से ही विश्व की प्राचीन सभ्यताओं, संस्कृतियों तथा युगों की पहचान की गयी है। ताम्र, कांस्य, लौह युगों में संस्कृतियों का वर्गीकरण कर उसका विवरण प्रस्तुत किया गया। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि धातु के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों ही स्तरों पर प्राचीन भारतीयों ने अपनी वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान का परिचय दिया है। धातुओं के परिज्ञान में भारतीय अग्रणी रहे हैं।

धातु का अर्थ तथा गुण :

'धातु' शब्द का सामान्य अर्थ है– धारण या पोषण (धातु धारण पोषणयो:)। 'धा' धातु तथा तुन प्रत्यय ने संयोग से निर्मित शब्द 'धातु' अनेकार्थी है। संघटक या मूल भाग, अवयव, मूल तत्त्व (पृथ्वी, आप, तेजस, वायु और आकाश), रस या द्रव्य, शरीर के स्थिति विधायक तत्त्व (वात, पित्त, काम–निदोष) खनिज पदार्थ कच्ची धातु आदि अनेक अर्थ

संस्कृत कोषों में मिलते हैं। किन्तु ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में धातु पोषण अर्थ में ही है, रजत, हिरण्य, त्रपु आदि धातु अर्थ में नहीं है। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में यह शब्द धारण करने वाले खनिज के अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु प्राचीन काल के साहित्यिक संदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि मुख्य रूप से खनिज द्रव्य के लिए ही इसका प्रयोग है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में धातुओं के विविध नाम हैं। अमरकोष में वनौषधि वर्ग के अन्तर्गत मनःशिला, हरताल, सुवर्ण, ताँबा, चाँदी, गेरु, अंजन, काँसी, सीसा, लोहा, हिंगलू, गन्धक, अभ्रक आदि को धातुओं में परिगणित किया गया है। जबकि अन्यत्र श्लेष्मा आदि (वात, पित्त, कफ) रस, रक्त, महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा गन्धादि को धातु माना गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धातु का व्यापक अर्थ प्रयोग होता रहा है। अंग्रेजी में इसे मेटल (Metal) तथा इसके विज्ञान को मेटलर्जी (Metallurgy) कहा जाता है।

'धातु' की पहचान गुण से होती है। प्रत्येक धातुओं (खनिजों) में अपने–अपने गुण होते हैं। अपने मूल गुण के साथ धातुओं में अन्य गुणों के सम्मिश्रण से धातुओं में गुण वृद्धि होती है। कौटिल्य ने कहा है कि धातु जितना भारी होगा, उसमें उतना ही सत्त्व होगा। इन्हें 'खनिज' तथा 'अयस्क' भी कहा जाता है। आधुनिक धातु विज्ञान में धातुओं के गुणों को चिन्हित किया गया है यथा– धातुजन्य आभा, उष्णता के संवाहक, सामान्य ताप पर ठोस किन्तु अधिक ताप पर द्रवीभूत होना या पिघलना, प्रकाश विकिरण, शब्द करना, हल्की धातुओं में अम्लों का घुलना आदि। कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत में धातुओं गुणों की पहचान अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिलती है। कृषिकर्म, शिल्प, श्रृंगार आदि में धातुओं का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता रहा है।

प्राचीन भारत में धातुओं का पूर्ण ज्ञान था। इसका परिचय यहाँ के साहित्य तथा पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त सामग्रियों से भी मिलता है। ऋग्वेद में हिरण्य (सोना), रजत (चाँदी) सीस, (सीसा) तथा अय (लोहा, ताँबा), से बनी वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार यजुर्वेद में एक स्थान पर हिरण्य (सोना), अय (काँसा), श्याम (लोहा), लोह (ताँबा), सीस (सीसा) तथा त्रपु (टिन) की प्राप्ति की कामना की गयी है। इसी प्रकार अथर्ववेद, छान्दोग्य उपनिषद, चरकसंहिता, सुश्रुत संहिता, कौटिल्यीय अर्थशास्त्र रसार्णव, आयुर्वेद प्रकाश आदि में धातुओं के नाम तथा उनके गुणों के साथ–साथ जीवन में उनकी उपयोगिता की चर्चाएं हैं। महाभारत में तो पारद (= पारा) का वर्णन है। इस सम्बन्ध में यह एक रोचक तथ्य

है कि पारे का प्रथम ज्ञान भारतीयों को ही हुआ। भारत में तो परिवारों में घरों के भीतर धातुओं को गलाने तथा उनसे विभिन्न उपयोगी शिल्प के निर्माण की परम्परा रही है। सैन्धव संस्कृति के स्थलों से अनेक प्रकार के मूर्ति शिल्प धातुओं को गलाकर बनाये गये हैं। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों के उत्खनन से सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा एवं सीसा आदि धातुओं के पुरावशेष मिले हैं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त कांस्य की नर्तकी सर्वोत्तम उदाहरणों में से एक है। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरणों से इस धातु विज्ञान की प्रामाणिकता तथा तकनीकी प्रगति का अच्छा परिचय मिलता है। मुख्य रूप से प्राचीन भारत में सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, टिन, सीसा, जस्ता, पारा आठ मूल धातुएं तथा पीतल एवं कांसा तो 'मिश्र' धातुएं थी जिनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

(क) सोना :

प्राचीनतम ज्ञात धातुओं में सोने की गणना सबसे अधिक प्रिय और मूल्यवान धातुओं में की जाती रही है। शक्ति, सम्मान और स्थिरता के उच्चतम् प्रतीक के रूप में, व्यक्ति और राष्ट्रों की सम्पत्ति और समृद्धि के मानदण्ड के रूप में प्राचीन काल से ही सोने की प्रतिष्ठा सर्वोपरि रही है। अपनी निर्दोष चमक, सुन्दर रंग, भार की स्थिरता और अन्य भौतिक गुणों के कारण सोना प्राचीन काल से ही सभी धातुओं में महामहिम सरताज रहा है। आधुनिक धातु विज्ञान में सोना कुलीन धातुओं (रजत, स्वर्ण, प्लैटिनम) में सर्वाधिक कुलीन धातु है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में सोने के लिए हिरण्य, हरित, हेम, शतमान, वेणव, जाम्बूनद, कलधौत, गांगेय, जातरूप, शतकुम्भ, तपनीय, कन्चन,कनव, हाटक, स्वर्ण आदि अनेक नाम मिलते हैं। यह पीले रंग की चमकीली धातु है, जिसका गलनांक 1063° सेण्टीग्रेट तथा घनत्व 19.4 होता है। सोने की शुद्धता कैरेटों में मापी जाती है।

भारतीय मनीषा प्रातःकालीन उगते सूर्य की उपमा स्वर्ण–वर्षी, देवता से करती है। इसीलिए अरुणाभा वास्तव में कनकाभा है। श्रीसूक्त में सांकेतिक रूप से समुद्र के भीतर की स्वर्ण–सम्पदा एवं आग्नेय धातु कर्म उसकी सिद्धि की ओर संकेत करती है। ऋग्वेद में 'हिरण्य' का लगभग शताधिक बार उल्लेख, अथर्ववेद का 'दाक्षायणी हिरण्य' नामक रसायन, शतपथ ब्राह्मण में 'अमृतमायुर्हिरण्यम्' तथा इसी प्रकार परवर्ती साहित्य में सोने के महत्वपूर्ण उल्लेख हैं। सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हैं, जहाँ सोने के खनन, प्रगलन (गलाने की क्रिया), शोधन, टकसाल में ढलाई के साथ–साथ अच्छे, बुरे, शुद्ध, अशुद्ध स्वर्ण के गुणों का विवरण एवं टकसाल के अध्यक्ष के गुणों एवं कर्तव्यों का समीचीन निर्देश हैं।

मेरु पर्वत से निकलने वाली नदी से प्राप्त सोना 'जाम्बूनद' शतकुम्भ पर्वत एवं वेणुपर्वत से निकलने वाला सोना क्रमशः शातकुम्भ एवं वेणव खानों से प्राप्त सोना 'हाटक' कहा गया है। अतिशय शुद्धता के कारण पर्वतों से प्राप्त सोना 'जातरूप'

कहा जाता है। सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास' (1131 ई0) में सोने से देवताओं की मूर्तियाँ बनाने का विधान मिलता है। पारे से स्वर्ण–धूलि (Gold Dust) जिसे 'स्वर्ण भस्म' कहा जाता है को निर्मित करने की प्रक्रिया का उल्लेख मुनि पुण्यविजय कृत ग्रन्थ (सरत्नसमुच्चय तथा रसेन्द्र चूड़ामणि) में मिलता है। रेत से स्वर्ण निकर्षण की विधि भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ज्ञात थी। प्राचीन भारत में सोने के खनन की परम्परा पूर्ण पाषाण काल के आसपास शुरू हुई होगी।

भारत में मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल, राजोड़ी, टेक्कलकोटा, दायमाबाद आदि में प्राचीन प्रमाण मिले हैं। मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार में नदियों के तलछट से सोना प्राप्त होता था। इसमें मानभूमि एवं सिंहभूमि जिलों में स्वर्णरेखा नदी की घाटी का क्षेत्र विशेष उल्लेखनीय था। मैसूर की कोलार खानें, रायचूर जिले की हट्टी स्वर्ण खानें, अनन्तपुर जिले की रामगिरि क्षेत्र एवं नीलगिरि क्षेत्र दक्षिण भारत में सोने के लिए विश्वविख्यात थे। सोने से चाँदी को अलग करने की 'खर्पर विधि' का ज्ञान भारतीयों को चौथी शताब्दी ईसापूर्व में ही था। गुप्तकाल में सोने के सिक्कों में 25 प्रतिशत चाँदी प्रयत्नपूर्वक मिलाई जाती थी।

इस प्रकार सोने की प्राप्ति, स्वर्णशोधन, स्वर्ण निकर्षण आदि विधियों के साथ–साथ प्राचीन भारत में सोने का विविध उपयोग तथा जीवन में महत्ता की दृष्टि से प्राचीन भारत के धातु विज्ञान में सोना को विशेष महत्व प्राप्त था।

(ख) ताँबा :

प्राचीन भारत के वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान की दृष्टि से धातुओं के अन्तर्गत ताँबा (= ताम्र) का विशेष महत्व है। यद्यपि ऋग्वेद में 'ताम्र' का पृथक् उल्लेख नहीं है तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि 'अयस्' का प्रयोग लोहे एवं ताँबे दोनों ही अर्थों में होता था। यजुर्वेद में 'लौह' शब्द से तथा अथर्ववेद में 'लौह' एवं 'ताम्र' शब्द–से ताँबे का उल्लेख मिलता है। परवर्ती साहित्य में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं।

मानव सभ्यता के इतिहास में पाषाण युग और धातु युग नामक दो बड़े सोपानों में धातु युग का वर्गीकरण ताम्र–युग और कांस्य युग के रूप में किया गया है। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर ताँबे का इतिहास कम से कम नौ हजार वर्ष प्राचीन प्रमाणित है। ताँबे में टिन की मात्रा मिलाकर कांसा बनाने की विधि ने कांस्य युग को विकसित किया।

भारत में ताम्र–खनन की परम्परा का दीर्घकालीन इतिहास है। लगभग छः हजार वर्ष पूर्व में भारत के अंग रहे मिहरगढ़ ब्लूचिस्तान तथा कालीबंगा में ताँबे के गलाने के प्रमाणों की पुष्टि कार्बन–14 विधि से मिली है। भारतीयों द्वारा धातु–खनिजों को पहचानने एवं उनके प्राप्ति क्षेत्रों का पीछा करने की अद्भुत क्षमता थी। धातु प्राप्ति के पश्चात् धातुमल के विश्लेषण से तत्कालीन धातु–निकर्षण के उत्कृष्ट स्तर की दक्षता का परिचय मिलता है। भारत में कांस्ययुगीन सभ्यता के रूप में ज्ञात सिन्धु घाटी की नगर योजना, मूर्तियों का निर्माण तथा उसके पश्चात् ताम्र–पाषाण संस्कृति, ताम्रनिधियों, जिनमें ताँबे के उपकरण यथा– कुल्हाड़ियाँ,

तलवारें, भाले आदि सामग्रियाँ आदि मिली हैं, ताँबे के सिक्के, उपकरण, मूर्तियाँ आदि प्राचीन भारत में ताँबे के तकनीकी प्रगति के प्रमाण हैं।

(ग) काँसा :

धातु विज्ञान के अन्तर्गत काँसा एक मिश्र धातु के रूप में वर्णित है। भारतीय साहित्य में काँसा (कांस्य) घोष, कंसक, फूल आदि नामों से जाना जाता है। प्राचीन काल में उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत में कांस्य की तकनीकी विधि का स्वरूप अधिक उन्नत था। इसीलिए परम्परागत शैली में मूर्तियों, कलात्मक अलंकरण और उत्तम समानुपातिकता मिली है। सिन्धु घाटी की कांस्य मूर्ति से लेकर आधुनिक काल तक कांसे का प्रयोग विद्यमान है। दक्षिण भारत में कांस्य मूर्तियां पंचलौह (पीतल, ताम्र, रजत, स्वर्ण एवं टिन के मेल से निर्मित) से बनी है। लुप्तमोम–विधि से कांस्य मूर्तियों को निर्माणों को 'मधूच्छिष्टविधानम्' कहा जाता था। सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ में मूर्तियों की ढलाई का विस्तृत विवरण है। ताँबे में 6 से 13 प्रतिशत बंग मिलाकर कांसा बनता था।

(घ) लोहा एवं इस्पात :

मानवीय सभ्यता में उद्योगों की चिर–सहचर धातु के रूप में लोहे की गणना की जाती है। कृषि कर्म, आवासों के निर्माण, युद्ध एवं प्रतिरक्षा तथा आयुर्वेद में भस्मों एवं आसवों के रूप में लोहे ने अपनी उपयोगिता तथा काठिन्यता स्थापित की है। दिशाओं को अवगत कराने वाली नाविकों की दिक्–सूचियाँ चुम्बकीय लोहे से बनाई जाती थी। प्राचीन भारत में ताम्र और कांस्य युग के समृद्ध अनुभव और उत्तम लौह अयस्कों की प्रचुरता ने यहाँ लौह–युग का मार्ग प्रशस्त किया।

भारतीय लौह–धातु–कर्म के उत्कर्षपूर्ण अस्तित्व के प्रभाव वैदिक काल में मिलते हैं। ऋग्वेद में लोहे के लिए प्रयुक्त शब्द 'अयस्' जर्मन के 'आईसेन' अंग्रेजी के 'आइरन' एवं फ्रेंच के 'आसिए' (इस्पात) का आदिपूर्वज बना है। यजुर्वेद में लौह–प्रगालक (गलाने वाला) के लिए 'अयस्ताप' का उल्लेख है। वैदिक काल में 'धमातृ' और 'कर्मार' नामक लोह कर्मिकों का भी उल्लेख है। भारत में 1000–600 ई0पू0 का काल लौह प्रौद्योगिकी के कारण लौह युग के नाम से जाना गया।

भारत में लोहे एवं इस्पात का ज्ञान प्राचीन काल से ही उन्नत अवस्था में था। जीवन के विविध क्षेत्रों में लोहे के प्रयोग ने सांस्कृतिक एवं भौतिक जीवन को समृद्ध बनाया। लोहे की तीन कोटियों– ढलवा, फौलाद या इस्पात तथा षिटवा का विवरण मिलता है। भारतीय लौह की श्रेष्ठता गुप्तकाल (चौथी शती ई0) के मेहरौली (दिल्ली) के स्तम्भ से प्रमाणित है, जिस पर न कोई जंग है न जोड़। यह लौह स्तम्भ प्राचीन भारतीय धातु विज्ञान का सर्वोच्च उदाहरण है।

(ङ) पीतल तथा जस्ता :

प्राचीन भारत के धातु विज्ञान के अन्तर्गत पीतल व जस्ता का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारत में पुरातात्विक एवं धातु कर्म के अवशेषों के आधार पर यह

कहना समीचीन हैं कि चीन तथा अन्य योरोपीय देशों ने भारत से जस्ते की तकनीकी सीखी। भारतीय धातु कर्मी जस्ते को प्राप्त करने में प्रथम थे। राजा मदनपाल रचित 'आयुर्वेदीय संहिता' (1374 ई0) में जस्ते को स्पष्ट रूप से एवं अलग धातु का दर्जा प्रदान किया गया है। यशोधरा कृत ग्रन्थ 'रसप्रकाश सुधाकर' में जस्ते के अयस्क से जस्ता बनाने की विधि का विधान है। रुद्रयामलतन्त्र में यशद एवं शुल्व (तांबा) के योग से पीतल बनाने का संकेत है। यशद से बिगड़कर यशदा, जसदा और जस्ता बना है। पीतल बनाने में जस्ते के अयस्क को कार्बन एवं ताँबे के चूर्ण को मिलाकर गर्म करने से प्राप्त पीतल में तकनीकी कारणों से 28–30 प्रतिशत कम ही जस्ता लगता है।

भारत में 90 प्रतिशत से अधिक जस्ते को पीतल (संस्कृत 'रीतिका' या साधारण भाषा में 'बीदरी') कहा जाता है। पीतल के विधि प्रकारों की रीति, पीततात, आराकूट, रीतिका, काकातुण्डी आदि से निरूपित करने की परम्परा भारतीयों द्वारा जस्ते के निष्कर्षण एवं इसके पीतल निर्माण में उपयोग की सुदीर्घ एवं समृद्ध परम्परा को रेखांकित करती है। जस्ते, सीसे एवं टिन धातुओं को संस्कृत में 'त्रिवंग' कहा जाता था। भारत से जस्ता निर्यात होता था। राजस्थान के उदयपुर जिले का 'जाबर' नामक स्थान जस्ता उत्पादन का विश्व प्रसिद्ध केन्द्र था।

(च) रांगा (त्रपु) :

'रांगा' प्राचीन भारतीय धातुओं से साहित्य में 'त्रपु' अर्थात् अंग्रेजी 'टिन' नाम से विख्यात है। प्राप्ति स्थान के स्थान नामों के आधार पर इसे वंग, रांगा एवं आमीर भी कहते हैं। रांगे का घनत्व 7.3 तथा गलनांक 232° सेण्टीग्रेट है। यह श्वेत चमकीली धातु है जो खुली हवा में रहने के बाद भी खराब नहीं होती है। यजुर्वेद, तैत्रिरीय ब्राह्मण, तैत्रिरीय संहिता, छान्दोग्य उपनिषद, रामायण तथा बौद्ध ग्रन्थों में त्रपु (रांगा) का वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि "जहाँ की मिट्टी उषर वर्ण या मिट्टी के पके हुए लोष्ठ (ढेले) के समान हों, वहाँ की भूमि के रंग के आधार पर भूमि को त्रपु धातु समझना चाहिए।' बिहार के हजारीबाग, राँची, गया, गुजरात के बनासकांटा, राजस्थान के भीलवाड़ा तथा महाराष्ट्र के पालनपुर आदि से रांगा के अयस्कों का पता चला है।

(छ) सीसा, पारद एवं चाँदी :

प्राचीन धातुओं के अन्तर्गत सीसा, पारद (पारा) तथा चाँदी को समुचित महत्व प्राप्त है। सीसे के सीस, नाग, योगेष्ट, वप्र, पारद (पारा) के लिए रस, पारा, रसेन्द्र, दरद, सूत, चपल, शिव तथा चाँदी के लिए रजत, तार, रूप्य, अर्जुन, चन्द्र आदि नामों से अभिहित किया गया है। हड़प्पा सभ्यता में सीसे का प्रयोग प्रचलित था। सातवाहन शासकों ने सीसे के सिक्के विशेष रूप से जारी किये। आयुर्वेद में सीसे को समस्त रोग नाशक कहा गया है।

पारद (पारा) भारतीय विज्ञान की देन है। महाभारत, कुब्जिकातंत्र, रसरत्नसमुच्चय

आदि में इसका विशेष विवरण तथा विधि वर्णित है। पारे के माध्यम से कृत्रिम सोना रससिद्धों ने बनाया था।

इसी प्रकार चाँदी (रजत) की तकनीकी से भारतीय परिचित तो थे ही, सबसे आगे भी थे। रजत भस्म को आयर्वुेद में बुद्धिवर्द्धक कहा गया है।

(2) रसायन विज्ञान :

रसायन के वैज्ञानिक एवं विधिक प्रयोग की दृष्टि से प्राचीन भारत का इतिहास गौरवपूर्ण रहा है। विविध प्रकार के रसायनों की खोज तथा उनसे जीवन की सर्वोच्च उपलब्धियाँ प्राप्त करने में भारतीय आगे रहे हैं। प्राचीन काल से ही भारत में रसायनों का उपयोग मुख्यतः चिकित्सा कर्म, धातु कर्म, शिल्पकर्म एवं प्रतिरक्षात्मक तथा युद्ध आदि में होता रहा है। रसायन विद्या से बल, वायु, तेज, वीर्य आदि प्राप्त करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक साहित्य में रसायनों के आविष्कार तथा प्रयोग के पर्याप्त साक्ष्य हैं। अथर्ववेद तथा अन्य वेदांगों में आयुष्य के सम्बन्ध में रसायनों का पर्याप्त उल्लेख है।

प्राचीन भारत में चरक, कौटिल्य, नागार्जुन, सुश्रुत आदि ने मुख्य रूप से रसायनों के सम्बन्ध में बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त की थी। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ तथा उनमें निहित वैज्ञानिकता भारत के राष्ट्रीय धरोहर तो हैं ही, विश्व कल्याण के लिए उपयोगी भी हैं।

चरक आयुर्वेद के काय चिकित्सा के प्रधान आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ 'चरक संहिता' महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। चरक में रसायन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "लाभोपायोहि शस्तानां रसदिनां रसायनम्" अर्थात् जिस आहार, विहार व आचार से प्रशस्त रस रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, वह रसायन है। इसकी सामान्य परिभाषा यह दी जाती है कि 'जो जरा और व्याधि का नाश करे' वह रसायन है। चरक के अनुसार रसायन सेवन से मनुष्य दीर्घायु, मेधा, स्मृति, आरोग्य, तारुण्य, प्रभा, वर्ण, स्वर की उदारता, शरीर पुष्टि, इन्द्रियशक्ति, बलवृद्धि, वाक्सिद्धि, प्रणति, कान्ति आदि गुणों को प्राप्त करता है। रसायन दूसरे अमृत के समान है।

मौर्यकालीन ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य ने रसायनशास्त्र की महत्वपूर्ण वैज्ञानिक विधियों का विवरण दिया है। रसायन के क्षेत्र में कौटिल्य का महत्व चौदहवें अधिकरण के कारण है। इसका नाम 'औपनिर्णदक प्रकरण' है। इसके प्रथम अध्याय 'परघात प्रयोग' में शत्रु को हानि पहुंचाने के लिए प्राणहरण रसायन व धूमयोग, अंधक (धूमयोग), मदनयोग, कुष्ठयोग, विषूचिका (हैजा) योग, ज्वरयोग, मूकबधिर योग, दंश व जलाशय भ्रष्टयोग, निष्प्रतिकारक अग्नियोग, नेत्रयोग, आदि योगों का वर्णन है। इसी प्रकार धातु कर्म के क्षेत्र में रसायनों के प्रयोग का भी सविस्तार वर्णन है। रसायनशास्त्र के क्षेत्र में कौटिल्य एक अभिनव आविष्कार तथा प्रयोग दोनों थे।

प्राचीन भारतीय रसायन विज्ञान में अप्रतिम योगदान के लिए नागार्जुन (प्रथम शती ई0) का नाम विश्व विख्यात है। प्राचीन भारतीय रसायन विज्ञानियों की

परम्परा में इनका नाम सर्वोपरि है। नागार्जुन कुषाणकालीन बौद्ध दार्शनिक तांत्रिक तथा रसायनज्ञ थे। वे शून्यवाद के भी प्रवर्तक थे। उनका ग्रन्थ 'रस रत्नाकर' रसायन विज्ञान का अप्रतिम ग्रन्थ है। इसका अन्य नाम 'रसेन्द्रमंगल' भी मिलता है। इसमें रासायनिक विधियों का वर्णन वट वृक्ष पर रहने वाली यक्षिणी तथा शालिवाहन के मध्य संवाद के रूप में हुआ है। यक्षिणी ने माण्डव्य से प्राप्त रासायनिक विधियों को शालिवाहन से बताया है। इसमें धातु परिवर्तन, याक्षिक शुद्धि, धातुओं का मारण, धातुओं का प्रगलन, पारद रसबंध, अभ्रक दाद् आदि से सत्व निकालना विशेष महत्वपूर्ण है। 'रसरत्नाकर' में रसायनोपयोगी यंत्रों यथा–कोलिका यन्त्र, वकनाल, गोबर, ईंधन, धौंकनी, लौहपात्र, कान्जी, पाषाणयंत्र, विड़, शिलायन्त्र, तुलायंत्र कच्छपयंत्र, बातुकायंत्र आदि उल्लेखनीय है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय रसायनज्ञों में नागार्जुन का अप्रतिम योगदान माना जाता है।

इसी प्रकार अन्य प्रमुख रसायनाचार्यों में वागभट्ट 'रसरत्नसमुच्चय', गोविन्दाचार्य 'रसार्णव' यशोधर 'रसप्रकाशसुधाकर', रामचन्द्र 'रसेन्द्रचिन्तामणि', सोमदेव कृत 'रसेन्द्र चूड़ामणि' उल्लेखनीय है, जिनके ग्रन्थों में रसायन बनाने की विधि, उसके यन्त्र, उसमें लगने वाली आधारभूत सामग्री द्रव्य आदि का वर्णन किया है। प्राचीन भारतीय रसायनशास्त्र पर आत्रिदेव विद्यालंकार का 'रसशास्त्र', सत्यप्रकाश का ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में रसायन', पी0सी0 राय का ग्रन्थ 'हिन्दू केमेस्ट्री' विशेष पठनीय है।

(3) चिकित्सा विज्ञान :

प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान विश्व में प्राचीनतम तथा श्रेष्ठतम विज्ञान रहा है। इसका क्षेत्र व्यापक था। प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान केवल चिकित्सा का विज्ञान न होकर वह 'आयुर्विज्ञान' था। इसका समायोजन आयुर्वेद के अन्तर्गत किया गया है। प्रकृति से मिलने वाली औषधियों की पहचान, वर्गीकरण और उनके उपयोग का प्रयोगात्मक ज्ञान आयुर्वेद की एक अद्भुत उपलब्धि है। इन औषधियों के अतिरिक्त रसायनिक प्रक्रिया से निर्मित औषधियों का भी आयुर्वेद में प्रचुर विकास मिलता है। अत्रिदेव विद्यालंकार ने अपने मौलिक ग्रंथ 'आयुर्वेद का वृहत् इतिहास' में सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान पर प्रामाणिक सामग्री दी है।

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय मनीषियों की उपलब्धियाँ महान रही हैं। प्राचीन काल में देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार, भगवान् धन्वन्तरि, चरक, सुश्रुत, जीवक आदि चिकित्सा के महान् आचार्य थे। चरक के अनुसार रोगों का उपचार ही चिकित्सा है।

सुश्रुत ने 'सुश्रुत संहिता' में आयुर्वेद को पारिभाषित करते हुए लिखा है कि "आयुरास्र्यन विद्यतेऽनेनवाऽऽयुर्विन्दतीत्वायुर्वेदः" अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य आयु प्राप्त करता है, वह आयुर्वेद है। इसी क्रम में यह भी लिखा है कि व्याधिग्रस्त लोगों के व्याधि का मोक्ष तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा आयुर्वेद का प्रयोजन है।

भारतीय परम्परा में चिकित्साशास्त्र अत्यन्त पुरातन है, शाश्वत है। सुश्रुत एवं

कश्यप का मत है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद को पहलें बनाया तथा प्रजा को बाद में उत्पन्न किया (आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् ततो विश्वानि भूतानि—काश्यप संहिता)। चरक का भी यही मत है। इस प्रकार विश्व के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर ज्ञात होता है कि चिकित्सा अर्थात् आयुर्वेद नित्य है, उसके सिद्धान्तों को संकलित कर ग्रन्थ रूप देने का कार्य बाद में हुआ। प्राचीन भारतीय आयुर्वेद परम्परा इस विज्ञान के विकास को दो युगों में विभक्त करती है– (1) देव युग (2) मानव युग। ब्रह्मा से इन्द्र तक आयुर्वेद का देवयुग तथा आत्रेय आदि ऋषियों के बाद का युग मानव युग है।

भारतीय आयुर्वेद का मूल वेदों में सुरक्षित है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में औषधियों के सूक्त हैं। विविध प्रकार की औषधियों के रूप, रंग, प्रभाव आदि का सुन्दर वर्णन आयुर्वेद विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। औषधियों से स्तुति की गयी है। ईशोपनिषद् में सौ वर्ष जीने की कामना है। छान्दोग्य उपनिषद् में 116 वर्ष की आयु तथा निरोगता प्राप्ति के लिए विभिन्न रोगों के सन्दर्भ में मंत्रोपचार वर्णित है। वृहदारण्यक उपनिषद् में सन्तान–विज्ञान का सविस्तार विवेचन है। परिवार नियोजन तथा हृदय की कार्यप्रणाली का पूर्ण संकेत है।

भारतीय ऋषियों ने आयुर्वेद को शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदमृत्य, रसायन तथा बाजीकरण इन आठ भागों में विभक्त किया है। आयुर्वेद के सभी अंगों पर आचार्यों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचनाएं की, जिनकी संख्या शताधिक है किन्तु इसमें चरक रचित 'चरक संहिता', सुश्रुत रचित 'सुश्रुत संहिता', कश्यप विरचित 'कश्यप संहिता' तथा भेल विरचित 'भेल संहिता' ही उपलब्ध है। इनमें चरक एवं सुश्रुत संहिताएं सर्वोत्कृष्ट हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचना तथा टीकाएं लिखी गयीं। इनमें गुप्तकालीन लेखक वाग्भट्ट का 'अष्टांग संग्रह' महत्वपूर्ण है। इसी काल में 'नवनीतकम्' नामक चिकित्साशास्त्र संग्रह प्रस्तुत किया गया। इनमें चरक संहिता 'काय चिकित्सा' का तथा 'सुश्रुतसंहिता' शल्य चिकित्सा का आधार ग्रन्थ है। आठवीं शती ई0 का ग्रन्थ 'माधव निदान' नाड़ी ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

चिकित्सा को आठ अंगों में बांटकर प्रत्येक अंक का आयुर्वेद में विकास किया गया। वस्तुतः आज की चिकित्सा पद्धति का आधार भी वही है। धन्वन्तरि तथा सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा में अप्रतिम योगदान दिया। इसी के साथ प्राकृतिक चिकित्सा, जिसमें सूर्य रश्मि, वायु, जल, मृत्तिका, अग्नि, उपवास तथा अध्यात्म को सम्मिलित कर भारतीय चिकित्सा विज्ञान ने जगत प्रसिद्धि प्राप्त की।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान विश्व में सर्वश्रेष्ठ रहा है क्योंकि यहाँ चिकित्सा विज्ञान की समग्र दृष्टि रही है। रोग शरीर के धरातल पर दिखाई देते हैं, किन्तु उनका मूल मन के धरातल पर होता है। योगवाशिष्ठ में इसका विश्लेषण मिलता है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण तथा बाद के साहित्य में चिकित्सा के अद्भुत प्रसंग मिलते हैं।

प्राचीन भारतीय चिकित्सा विज्ञान के प्रति विश्व का दृष्टिकोण सराहनीय है। सर विलियम हण्टर ने लिखा है कि 'भारतीय आयुर्वेद में विज्ञान का सर्वांगीण

विकास हुआ है।' हकीम जालीन्स भी मानता है कि 'आयुर्वेद विद्या पहले हिन्दुस्तान से मिस्र में और मिस्र से यूनान तथा अरब पहुँची। 'होम्योपैथी, एलोपैथी, साइकोपैथी तथा नेचुरोपैथी के मूलतत्व महर्षियों ने पन्चनिदान में वर्णित किये है (भैषज्य रत्नावली की भूमिका–अम्बिकादत्त शास्त्री)। होम्योपैथ का मूल सिद्धान्त कि 'जिस पदार्थ से रोग होता है, उसी पदार्थ का चिकित्सा–विधि से सेवन करने से रोग दूर हो जाता है, श्रीमद्भागवत में वर्णित है। इस प्रकार भारतीय विज्ञान परम्परा का एक उज्ज्वल पक्ष चिकित्सा विज्ञान रहा है।

(4) खगोल एवं ज्योतिष :

प्राचीन भारतीय विज्ञान का चरमोत्कर्ष खगोल विज्ञान में दिखाई देता है। जहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय ग्रह, नक्षत्रादि का गम्भीर अनुसंधान भारतीय विज्ञानियों ने किया। इस विज्ञान का समावेश ज्योतिषशास्त्र में हुआ है। भारतीय ऋषियों ने खगोलीय गति के आधार पर काल का मापन किया तथा काल की अनन्त यात्रा और वर्तमान समय तक उसे जोड़ा और समाज में सर्वसामान्य व्यक्ति के ध्यान रखने की अद्भुत व्यवस्था की थी।

खगोल विज्ञान के अन्तर्गत ग्रह नक्षत्र आदि आकाशीय पिण्डों का अध्ययन होता है। वेद, वेदांग, ज्योतिष, महाभारत, पुराण, ज्योतिष एवं अन्य परवर्ती ग्रन्थों में खगोलीय अध्ययन के प्रमाण मिलते हैं। वैदिक देवशास्त्र में खगोलीय पिण्डों को ही देवत्व प्रदान कर उनकी गतियों तथा उनके प्रभावों से जीवन को संचालित किया जाता है। शुभ फल की प्राप्ति तथा अशुभ फल के निवारण के लिए ग्रहों की पूजा भी की जाती है। ग्रहों की संख्या, ग्रहों का परिचालन तथा गति–स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त अनुसंधान हुए हैं। सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु नामक नवग्रहों से ब्रह्माण्डीय सत्ता गतिमान है। ग्रहों की भाँति चन्द्रमा के भ्रमण पथ पर पड़ने वाले प्रमुख तारों को 'नक्षत्र' कहा गया है। नक्षत्र चन्द्रमा में प्रतिष्ठित होते हैं। नक्षत्रों की कुल संख्या 27 है। ज्योतिष ग्रन्थों में खगोलीय नक्षत्रों के नाम, स्वरूप, देवता, गुण, जाति, शुभाशुभ फलों आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है।

आधुनिक विज्ञान इस बात का प्रमाण है कि खगोलीय गतियों और उनकी गणनाओं को सहस्रो वर्षों की तपस्या तथा अनुसंधान के द्वारा जाना। सौरमण्डल का सम्पूर्ण ज्ञान भारतीय खगोलीय ज्योतिषियों ने प्राप्त किया। वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र इस ज्ञान का आलोक है। यह दुःखद है कि वैदिक ज्ञान को व्यवस्थित स्वरूप नहीं मिल सका। बाद में लगध मुनि ने वेदांग के अन्तर्गत 'ज्योतिष' की रचना की जिसमें यज्ञ के लिए मुहूर्त ज्ञान तथा नक्षत्रादि के सम्बन्ध में जानकारी दी गयी। किन्तु गुप्तकाल (चौथी–पाँचवीं शताब्दी ई0) में बराहमिहिर ने, जो काम्पिल्य के निवासी तथा आदित्यदास के पुत्र थे और ज्ञानार्जन हेतु उज्जयिनी आये थे, 'वृहत्संहिता' और 'पन्चसिद्धान्तिका' नामक खगोल ज्योतिषीय ग्रन्थों की रचना की। आर्यभट्ट ने 'आर्यभटीयम्' में आकाश कक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि की

गति, उसका व्यास, परिमाण, परिधि आदि का परिमाण बताया। पन्चसिद्धान्तिका के अनुसार ज्योतिष के पाँच सिद्धान्त माने गये– (1) पितामह सिद्धान्त (2) वशिष्ट सिद्धान्त (3) सूर्य सिद्धान्त (4) पोलिश सिद्धान्त तथा (5) रोमक सिद्धान्त। सूर्य सिद्धान्त इन सभी सिद्धान्तों में सर्वाधिक समादृत तथा मान्य ग्रन्थ है, जिसके आधार पर बाद के आचार्यों ने युगमान और तिथिक्रम निकाला। तिथियों का प्रयोग केवल भारतीय ज्योतिर्विज्ञान में ही पाया जाता है।

प्राचीन भारतीय खगोल तथा ज्योतिष के अनेक आचार्यों ने अपना योगदान दिया। आगें चलकर ब्रह्मगुप्त (सातवीं शती ई0) ने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' में पृथ्वी की परिधि का सही माप प्रस्तुत किया। आचार्य लल्ल ने 'शिल्य धी वृद्धिम्' में पृथ्वी के स्वरूप का विवरण दिया। इसी प्रकार भास्कराचार्य आदि ने अपने योगदानों से भारतीय खगोल तथा ज्योतिष को आगे बढ़ाया।

यह सर्वविदित है कि पन्द्रहवीं शती ई0 तक खगोल और ज्योतिष में भारत ही विश्व गुरु था। बाद में कोपरमेक्स (1472 ई0), गैलीलियो (1564 ई0), न्यूटन (1642 ई0) आदि ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये। विश्व जानता है कि भारत ने खगोल तथा ज्योतिष का ज्ञान विश्व को दिया।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय विज्ञान के अन्तर्गत धातुविज्ञान, रसायनविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, खगोल एवं ज्योतिष के मौलिक विवेचन से भारतीय मनीषियों की विज्ञान को दी गयी महत्वपूर्ण देनों को समझा जा सकता है, गर्व किया जा सकता है।

अध्याय—11

आधुनिक राष्ट्र, राज्य तथा राष्ट्र गौरव के घटक

राजनीतिक चिन्तन के फलक पर राष्ट्र–राज्य की संकल्पना अतिशय महत्वपूर्ण है। राष्ट्र–राज्य ही राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामरिक गतिविधियों का केन्द्र है। आधुनिक राज्य, राष्ट्र–राज्य के रूप में अभिहित किये जाते हैं। अर्थात् वह एक निश्चित भूमि पर बसे हुए लोगों को मिल – जुलकर रहने के लिये कानून और व्यवस्था का औचित्य स्थापित करता है और लोगों को विभिन्न भेदभावों से ऊपर उठकर इकट्ठा रहने के लिए मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और भावनात्मक आधार प्रदान करता है, क्योंकि यह मेलजोल राज्य के उद्देश्यों की सफलता के लिए आवश्यक है।

राष्ट्रवाद एक बहुआयामी एवं सापेक्षिक संकल्पना है इसका विशेष सामाजिक आर्थिक संदर्भ होता है। अपने व्यापक स्वरूप में राष्ट्रवाद भूत, वर्तमान और भविष्य में निरन्तर सम्बद्ध रहने वाली अवधारणा है। इसके अन्तर्गत ही किसी स्थान विशेष के लोगों के बीच भावनात्मक एकता का बोध कराने वाला कारक भी सम्मिलित हो जाता है। मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में अपना आधार प्राप्त करने वाला राष्ट्रवाद किसी संकीर्ण या एंकाकी पक्ष या दृष्टिकोण से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। किसी राष्ट्र के निर्माण में किसी एक ही तत्व विशेष का योगदान पर्याप्त नहीं होता, इसके कारणों में ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक सभी शामिल हो सकते हैं यदि वे सामान्य एकता का समर्थन करते हों।

मनुस्मृति जैसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राष्ट्र के विषय में विशद् विवेचन मिलता है। राष्ट्र शब्द अंग्रेजी भाषा के नेशन का पर्यायवाची है। नेशन लैटिन भाषा के नासी, नाटुस या नाशियों शब्दों से निकला है। उक्त तीनों शब्दों का अर्थ पैदा होना या जन्म ग्रहण करना है। अस्तु शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से राष्ट्र का तात्पर्य किसी भी स्थान के ऐसे व्यक्तियों से होता है जिनका मानववांशिक उद्भव एक ही हो। राष्ट्रवाद का उद्भव यूरोप में राष्ट्र–राज्यों के निर्माण के अनन्तर हुआ। 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसने यूरोप के पुनर्गठन, इटली और जर्मनी के एकीकरण, हैप्सबर्ग और आटोमन साम्राज्यों के विघटन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा एशिया और अफ्रीका की राजनीतिक जागृति में प्रभावशाली शक्ति का काम किया।

व्यवहारिक दृष्टि से राष्ट्र–राज्य से ही राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति होती है। राष्ट्र–राज्य और राष्ट्रवाद अपृथक्करणीय अवधारणा है एक दूसरे के पूरक है।

राष्ट्र–राज्य का विकास पुनर्जागरण और सुधारवाद के उस दौर में हुआ जब व्यक्ति की निष्ठा का प्रश्न राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार का प्रमुख मुद्दा बना। इस आन्दोलन ने जहाँ मध्ययुगीन यूरोप में निष्ठा के केन्द्र चर्च से लोगों को विमुख किया, वही दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता के प्रतीक के रूप में 'राजा की आज्ञा के पालन' के विचार को स्थापित किया। यूरोप में पुनर्जागरण और सुधारवादी आंदोलनों के बाद लैटिन भाषा के स्थान पर स्थानीय वर्णमाला का प्रयोग, विज्ञान के क्षेत्रों में नई खोजें, नये समुद्री मार्ग तथा नये देशों की खोज, बारूद, कागज, प्रिंटिंग प्रेस का आविष्कार, मध्यवर्ग के उदय आदि कई तत्वों ने इस सजगता में सहयोग किया। कृषकों पर चर्च की सर्वोच्च सत्ता कई स्थानीय सत्ताओं में बिखरनी आरम्भ हो गई। साथ ही साथ जागीरदारों की सत्ता एक शक्तिशाली केन्द्रीय राजा के हाथ में इकट्ठी होने लगी। राजाओं ने अपनी शक्ति ऐसे लोगों के चतुर्दिक केन्द्रित करने की चेष्टा की जो सामान्य भाषा के आधार पर आपस में संगठित थे। इस प्रकार यूरोप में राष्ट्रीयताओं के आधार पर राज्यों का विकास हुआ।

यूरोप में राष्ट्र–राज्य के समर्थकों द्वारा जनता में अपने विचार का प्रचार–प्रसार करने की दो धारायें थीं :– फ्रांसीसी सिद्धान्त जिसके अनुसार राष्ट्र का निर्माण आम जनता के मत से होना चाहिये। इस सिद्धान्त के समर्थक सामान्य कानूनी व्यवस्था के अधीन होने के लिये तैयार थे। नेपोलियन की विजयों द्वारा यह विचार और मजबूत बने। नेपोलियन को राष्ट्रवाद के मसीहा का रूप दिया गया तथा उसकी आत्मकथा के अनेक कथन इस संदर्भ में लोकप्रिय हो गये।

राष्ट्र को अतिशय महत्व प्रदान करने के संकल्प के रूप में राष्ट्रवाद का विकास जर्मनी में हुआ। इसे जर्मनी के सिद्धान्तों पर अवलम्बित माना जाता है और इसको लोकप्रिय बनाने में हर्डर के लेखों का विशेष योगदान था। यह राष्ट्रवादी ढांचे से हटकर भाषा तथा कौम पर आधारित था जिसका मध्य तथा पूर्वी यूरोप ने उन्नीसवीं शताब्दी में शीघ्रता से अनुसरण किया। हर्डर के अनुसार राज्य को शक्तिशाली बनाना अधिक आवश्यक था। केवल संस्थाओं और सार्वजनिक कल्याण से राष्ट्र महान नहीं बन सकता है।

एशिया और अफ्रीका के देशों में राष्ट्र–राज्य का विकास यूरोपीय प्रक्रिया और पद्धति से अलग हटकर हुआ यानि उनका विकास यूरोपीय तरीके या पैटर्न पर नहीं हुआ। विकासशील देशों या अल्पविकसित देशों में राष्ट्रवाद को विभिन्न चरणों से नहीं गुजरना पड़ा। यूरोप ने इस देशों में उपनिवेश स्थापित किया और शोषण किया। जिसके कारण इन देशों में राष्ट्र–राज्य के विकास पर प्रभुत्वशाली देशों की राजनीतिक संस्थाओं तथा विचारों का एक सीमा तक प्रभाव भी पड़ा। साम्राज्यवादी व्यवस्था में समान रूप से शोषित, पीड़ित इन देशों में एक सामान्य, स्वाभाविक और राष्ट्रवादी मनोवृत्ति उत्पन्न हुई। साम्राज्यवादी व्यवस्था के पोषकों के प्रति इस घृणा की अभिव्यक्ति जहाँ भारत जैसे देश में गाँधी के नेतृत्व में शान्तिपूर्ण से हुई, वहीं चीन में हिंसात्मक लूटमार, विध्वंस और हत्या के माध्यम से हुई जैसा की 'बॉक्सर विद्रोह' से लक्षित होता है। ..... इसके अलावा राष्ट्रवाद एक रचनात्मक

शक्ति भी हैं जो स्वतंत्रता, समानता, आर्थिक न्याय तथा राष्ट्रीय एकता के आधार पर राष्ट्रों का निर्माण करना चाहती है या करती है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्र–राज्यों के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी विचारणीय है। मार्क्स ने राष्ट्रवाद का न तो कोई व्यवस्थित सिद्धान्त दिया और न ही मजदूर वर्ग के लिए इस संदर्भ में कोई राजनीतिक नीति स्पष्ट की। मार्क्स के लिए राष्ट्र का महत्व शक्ति प्राप्त करने के राजनीतिक ढाँचे के अलावा और कुछ नहीं था। इससे अलग राष्ट्र–राज्य व उससे सम्बन्धित राष्ट्रवाद का प्रजातंत्र के साथ बहुत बारीक किन्तु स्पष्ट सम्बन्ध रहा है। प्रजातंत्रात्मक समाज में मौलिक सामाजिक प्रश्नों पर एकता आवश्यक होती है। राष्ट्रवाद और राष्ट्र–राज्य में एकता के तत्वों के विषय में कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर एकमत पाया जाता है।

समसामयिक संदर्भों में राष्ट्र–राज्य की अवधारणा के समक्ष व्यावहारिक स्तर पर कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रहतीं हैं। आज एक देश की आन्तरिक राजनीति पहले से कई अधिक कई स्तरों पर दूसरे देशों द्वारा प्रभावित हो रहा है। राष्ट्र–राज्यों के ऊपर राजनीतिक और गैरराजनीतिक अधिसत्ताओं की स्थापना हो चुकी है। एक ओर अपने भविष्य का सिद्धान्ततः निर्धारण करने वाले राज्य हैं, तो दूसरी ओर उनके निर्णयों को बाँधने और प्रभावित करने वाली विश्व–अर्थव्यवस्थायें अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, सैन्य गुट वैश्विक संस्थायें हैं। राष्ट्र निरन्तर बदलती परिस्थितियों से क्रिया–प्रतिक्रिया का सामन्जस्य प्राप्त करने की प्रक्रिया में है। अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक राष्ट्र–राज्य को सामूहिक स्वार्थ की संगठित अभिव्यक्ति कहकर निन्दा करते हैं, इस प्रकार के राजनीतिक समाज में अन्य सभ्यता और संस्कृति के प्रति सामान्यतया नकारात्मक दृष्टिकोण पाया जाता है। आक्रामक राष्ट्रवाद के कारण विश्व को कई युद्धो की विभीषिका झेलनी पड़ी। किन्तु अब परिस्थितियाँ पूर्ववत् नहीं है। आधुनिक राष्ट्र–राज्य के अन्तर्गत राष्ट्रीयता अपने सकारात्मक स्वरूप में भी विद्यमान रहती है और सही राष्ट्रीयता का अर्थ है 'जियो और दूसरों को जीने में सहायता दो'। इस प्रकार की आलोचनाओं तथा समर्थन के होते हुए रहते भी आज के समकालीन विश्व में राष्ट्र राज्य वास्तविक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है और सैद्धान्तिक एवम् व्यवहारिक स्तर पर मान्यता प्राप्त है। राष्ट्र राज्य के महत्व से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, विशेषकर बहुराष्ट्रीयताओं एवम् सांस्कृतिक बहुलता वाले राजनीतिक भू–भाग पर आज भी यह सम्प्रभु, सामूहिक सुरक्षित एवं गतिशील व्यवस्था का एक मात्र विकल्प है। वर्तमान लोकतांत्रिक युग में राष्ट्र राज्य इसकी व्यवहार में प्राप्ति और प्रतीत के माध्यम बन गये हैं।

सांस्कृतिक, नस्लीय, ऐतिहासिक विरासत और आर्थिक संसाधनों की बहुलता और विभिन्नता से परिपूर्ण भारत में राष्ट्र राज्य का आदर्श सदैव अभीष्ट रहा है। राष्ट्र राज्य के पश्चिमी रूप की प्राप्ति भारत मे निश्चित रूप से अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के दौरान हुई किन्तु किसी भी अन्य राष्ट्र राज्य की तरह इसके पास एकता के पर्याप्त कारण या भावना ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक रूप में विद्यमान थी और बनी हुई है। इसी कारणों से और इस पर सामान्य जनमानस के एकमत होने के कारण एक राष्ट्र राज्य के रूप में भारत सफल है।

एकता की भावना पर समय समय पर प्रहार भी हुए किन्तु अपनी व्यापकता और स्वीकार्यता के कारण भारतीय राष्ट्र राज्य एवं चुनौतियों और संकटों से उबरने में सफल भी रहा है।

निःसंदेह किसी भी राष्ट्र राज्य की सफलता अस्तित्व उसके विकास करने की प्रक्रिया पर अवलम्बित है। साथ ही इसके लिए उसे स्थाई और तात्कालिक रूप से गौरव के भाव से जुड़ा रहना आवश्यक है। राष्ट्रीय गौरव के विषय या उसके स्वरूप की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती है और न ही उसके तत्व को निश्चित संख्या मे गिनाया जा सकता है। भारतीय परम्परा में राष्ट्र गौरव एक दीप्त स्वत्शक्ति, गति का धारक सनातन, मूल्य माना गया है। राष्ट्रगौरव एक मूल्यवान सम्प्रत्यय है, जिसको सम्पूर्ण राष्ट्र धारण करता है। इस दृष्टि से भारत एक प्रथम दीप्तिमान राष्ट्र है।

राष्ट्र गौरव का विषय अतिशय व्यापक है इसके सन्दर्भ में कुछ सामान्य तत्वों का निरूपण किया जा सकता है। प्रथमतः कहा जा सकता है कि राष्ट्रगौरव के स्वरूप का सशक्त आधार यह है कि किसी भू भाग में निवास करने वाले लोगों का उस भौगोलिक क्षेत्र से लगाव हो, और यह लगाव स्वाभाविक और सहज हो। इस भावनात्मक ऐक्य के कारण जनमानस अपनी मातृभूमि के गौरव के प्रति भी सचेत होता है और इसको अपने व्यक्तिगत व सार्वजनिक जीवन में स्थान देता है। मातृभूमि का जो स्थूल रूप है वह उस भूमि पर निवास करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए राष्ट्रगौरव का आधार है। इससे सम्बद्ध एक तत्व है जन स्वरूप। इसका आशय किसी निश्चित भू भाग पर निवास करने वाले लोगों के उच्च स्तरीय आचरण, बौद्धिक स्तर, व्यक्तिगत और सामूहिक कुशलता, व्यक्तित्व और सार्वजनिक पहल से लिया जा सकता है। इसके सकारात्मक और उच्च होने पर कोई भी राष्ट्र और उसके लोग गर्व कर सकते है। यह तत्व किसी भी राष्ट्र के विकास और स्थायित्व के लिए आवश्यक होते है। उच्च गुणवत्ता वाले मानवीय तत्वों के साथ ही भौतिक और प्राकृतिक तत्व भी राष्ट्रीय गौरव के अनिवार्य तत्व प्रतीत होते हैं। भारत के सदर्न्भ में हिमालय, उसकी स्थिति, उसमें पाई जाने वाली सम्पदा, नदियाँ, नदियों के किनारे बसे पवित्र शहर, प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष और उनकी विरासत, नदियों से सिंचित क्षेत्र और जीवन यापन व विकास में उसके उपादान राष्ट्र गौरव को प्रतिष्ठित करती है।

भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक ब्रिकास सांस्कृतिक स्वरूप, के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं और इसी सांस्कृतिक तत्व के कारण व्यक्तिगत एवम् सार्वजनिक मानसिकता राष्ट्रगौरव के प्रति तैयार और सचेत होती है। विचार और कर्म के क्षेत्र मे राष्ट्र का जो सृजन है वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति के अन्तर्गत आने वाली कला राष्ट्रीय गौरव को पर्याप्त सम्बल प्रदान करती है। स्थापत्य, चित्रकला, गायन, वादन व मुर्तिकला जैसी विधाओं में समृद्ध द्वारा जनसमुदाय एक ओर सांस्कृतिक एकता का अनुभव करता है। दूसरी ओर विश्व में अन्य राष्ट्रीय राज्यों के सापेक्ष गौरव की अनुभूति करता है।

धार्मिक गतिविधियों तथा उनके केन्द्र भी राष्ट्रीय गौरव के प्रमुख घटक के रूप में मान्य है। इसका प्रभाव भौगोलिक आयामों नदियों, झरनों व कुण्डों पर पड़ता

है। धार्मिक भावना और परम्परा के कारण कोई जनसमुदाय आध्यात्मिक एकता का अनुभव कर सकता है और इस भावना को राष्ट्रीय गौरव से सम्बद्ध कर सकता है। कभी–कभी धार्मिकता बहुराष्ट्रीय और बहुधार्मिक समाज में तनाव का कारण भी बन सकती है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्र की सम्पन्नता एवं समृद्धि का विस्तार किसी राष्ट्र राज्य के लिए गौरव का अनिवार्य घटक कहा जा सकता है। धार्मिक जीवन के प्रति एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण जनसमुदाय में सहमति के रूप में प्रकट हो सकता है। आर्थिक गतिविधियों और उनको निर्धारित करने वाले सामान्य नियम एक निश्चित भू–भाग में गौरव की भावना को राष्ट्र राज्य के साथ जोड़ते हैं। विनिमय प्रणाली, वाणिज्यिक आयात–निर्यात आर्थिक पक्ष के महत्वपूर्ण भाग हैं जो किसी समुदाय को अत्याधिक प्रभावित करते हैं। इसके अन्तर्गत गतिविधि और विकास से राष्ट्र गौरव की भावना बलवती होती है।

व्यक्तिगत, पारिवारिक व सावर्जनिक जीवन को व्यवस्थित करने और राष्ट्र गौरव के तत्वों से व्यवस्थित रूप में अवगत होने, इनकी अभिव्यक्ति और उनका प्रसार करने में एक ही सम्प्रभु शक्ति के अधीन सावर्जनिक जीवन यापन करने से सामाजिक, आर्थिक एवम् सांस्कृतिक निकटता की स्थिति बनती है और इनकी राष्ट्र के निर्माण व राष्ट्रीय गौरव के तत्वों की रचना में प्रमुख भूमिका है। तुलनात्मक रूप से राजनीतिक स्थिरता और गतिशीलता, सौहार्दपूर्ण और स्वस्थ राजनीतिक परिवेश राष्ट्र की सफलता की अवलम्ब है और राष्ट्रीय गौरव के विषय हैं।

राष्ट्र राज्य की संकल्पना और राष्ट्र गौरव के तत्व आपस में अनिवार्य रूप से जुड़े हुये हैं। निरन्तर विकासमान इस राजनीतिक और भावनात्मक यथार्थ को समकालीन विश्व में हो रहे परिवर्तनों से चुनौतियाँ मिल रही है। इसका स्वरूप और इसकी विशेषतायें समसामयिक संदर्भो में परिवर्तनशील है। राष्ट्रीय गौरव के विषय और आयाम भी समय सापेक्ष परिवर्तित हुये हैं। भूमण्डलीकरण के दौर में राष्ट्र राज्यों की प्रवृत्ति में पूर्वान्तरकारी परिवर्तन होने से उनमें अन्तनिर्भरता की धारण बलवती हुयी है। आर्थिक मुद्दों की प्रबलता, संयुक्त राष्ट्र की महत्ता, संचार तकनीक का विस्तार, पर्यावरण और मानव अधिकारों के प्रति वैश्विक संचेतना के कारण किसी राष्ट्र की सोच, आकांक्षा केवल राष्ट्र तक सीमित न होकर वैश्विक परिचर्चा और चिन्तन के विषय बन गये है।